# भारत—भूमि और उसके निवासी

राष्ट्रीय एकता माला

# भारत—भूमि और उसके निवासी

नारायणी गुप्ता

अनुवाद

रमेश तिवारी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

जुलाई   १९७२
आषाढ़   १८९४

P. U. 3T



मूल्य रु० : १.६५ पैसे

प्रकाशन विभाग में, सैयद ऐनुल आबेदीन, सचिव राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली १६ द्वारा प्रकाशित तथा इंडियन प्रेस प्रा० लि०, इलाहाबाद में मुद्रित ।

## प्रकाशकीय

विश्व का कोई भी देश पुराण-कथा और आख्यान के क्षेत्र से, जो आज भी भारत के जन-जीवन में व्याप्त है, इस देश का मुकाबला नहीं कर सकता। भारत-भूमि ने अनेक महान् चिंतकों, समाज-सुधारकों, संतों, धार्मिक नेताओं एवं महान् राष्ट्रनायकों को समय-समय पर जन्म दिया है। हमारी संस्कृति की धारा अटूट रही है और हमारी सांस्कृतिक विरासत अनमोल है। किशोरों को इस सांस्कृतिक संपदा से परिचित कराने के उद्देश्य से परिषद् ने पूरक-पठन-साहित्य के प्रकाशन की योजना बनाई है जिसके अंतर्गत १४ से १७ वर्ष के आयु-वर्ग के बच्चों के लिए कई पुस्तक-मालाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। इनमें राष्ट्रीय एकता माला, आधुनिक समाज-सुधारक, भारत के संत कवि, हमारी सांस्कृतिक संपदा, हमारे धार्मिक नेता आदि प्रमुख हैं। ये पुस्तिकाएँ हिंदी और अंग्रेजी में साथ-साथ प्रकाशित की जा रही हैं। कुछ मूल रूप में हिंदी में लिखी गई हैं, कुछ को अंग्रेजी से रूपांतरित किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मूल रूप से अंग्रेजी में लिखी गई पुस्तक "इंडिया दि लैंड एंड दि पीपुल" का हिंदी अनुवाद है। परिषद् को आशा है कि इससे अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति होगी।

सं० वि० चंद्रशेखर अय्या
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी १९७२

# विषय-सूची



# १—हमारा देश

*"भारत एक गल्पकथा और एक कल्पना, एक स्वप्न और एक छाया होते हुए भी बिल्कुल वास्तविक, चिरस्थायी और सर्वव्यापी है।..."*

'भारत की खोज' में जवाहरलाल नेहरू

एक कल्पना, एक छाया है, हाँ—और साथ ही मात्र एक कल्पना से कहीं ज्यादा कुछ है। भारत पर्वत और घाटियाँ है, नदियाँ और मरुभूमि है, एक विस्मयकारी दृश्यपटल है..... और इसमें हैं कई करोड़ मनुष्य। हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे कि युगों से ये लोग किस प्रकार रहते रहे हैं और किस प्रकार वे सोचते रहे हैं। और इसको समझने के बाद हम यह भी समझ सकेंगे कि वह क्या चीज है जो इस देश और इस देश के रहनेवालों को एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करती है। यदि किसी भू-क्षेत्र के रहनेवालों में एक या एकाधिक चीजें समान होती हैं, और वह चीज ऐसी है जो उन्हें अन्य लोगों से भिन्न कर देती है तो ऐसे भू-क्षेत्र को एक राष्ट्र कहते हैं। हो सकता है कि वह भू-क्षेत्र-विशेष हमेशा से ही एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई रहा हो। हो सकता है कि उस भू-क्षेत्र में रहनेवाले सब लोग एक ही जाति के हों या उनका धर्म, उनकी भाषा या उनकी संस्कृति एक हो। हो सकता है कि उसमें ये कोई विशिष्टताएँ न हों, और फिर भी चूँकि वहाँ के लोगों ने आपस में मिलकर एक राजनीतिक संगठन बनाने का निश्चय किया, इसलिए वह एक राष्ट्र बन गया। भारत एक इतना विशाल देश है कि आज से सौ साल पहले, जब तेज परिवहन-व्यवस्था का विकास नहीं हुआ था, वह आर्थिक दृष्टि से पृथक और काफी हद तक एक दूसरे से स्वतन्त्र क्षेत्रों का समूह मात्र था। विभिन्न क्षेत्रों

के निवासियों की भाषा और रहन-सहन के ढंग में बहुत अधिक विविधताएं होने के कारण भारत को सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक इकाई नहीं कहा जा सकता था। इन भिन्नताओं के बावजूद विभिन्न क्षेत्रों और इनके निवासियों के बीच परस्पर इतना सपर्क रहा है जिसके कारण संपूर्ण रूप से देखने पर भारतीय लोगों में कुछ समानता आ गई है और यही समानता है जिसने उन्हें अफगान, नेपाली, चीनी और बर्मी लोगो से भिन्न बना दिया। पिछले पचास वर्षों के दौरान भारतीयों ने अपनी इस एकता या एकरूपता को राजनीतिक स्वतन्त्रता और एकीकरण की माँग के रूप में व्यक्त करना सीखा। भारत में क्या विविधताएँ है और क्या एकता है, इसकी चर्चा अब हम कुछ विस्तार से करेंगे।



भारत एक विशाल देश है—दस लाख वर्ग-मील का क्षेत्रफल, जिस पर पचास करोड़ से अधिक लोग रहते हैं। देश का आकार तो नही बढता, लेकिन आबादी की संख्या बराबर बढ़ती रहती है। इसका अर्थ है कि देश में जो भोजन पैदा होता है उसे खानेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ रही है। इससे पता चलता है कि भारत, जो किसी समय संसार के सबसे समृद्ध देशों में से था, आज क्यों अपेक्षाकृत गरीब देशों की पंक्ति में आ खडा हुआ है। हम इस अध्याय में देखेंगे कि भारतीयों ने अपनी धरती का क्या उपयोग किया है, और यह भी देखेंगे कि हमारा देश आखिर गरीब क्यों हो गया और इस गरीबी पर विजय प्राप्त करने के लिए क्या कुछ किया जा रहा है।

भारत हमेशा से एक कृषि-प्रधान देश रहा है—अर्थात यहाँ के अधिकांश लोग

अपनी जीविका खेती करके या ढोर चरा कर कमाते रहे है, बड़े-बड़े कारखानो मे नौकरी करके नहीं। यही हाल आज भी है, हालांकि पिछले बीस वर्षो मे औद्योगीकरण का बहुत विस्तार हुआ है। इसलिए भारत की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन उसकी जडों अर्थात गाँवो से आरंभ होना चाहिए।



एक भारतीय गाँव की शक्ल-सूरत सदियों के दौरान भी बिल्कुल नही बदली है, भले ही आज का देहाती बैलगाड़ी की अपेक्षा साइकिल और बाँसुरी की अपेक्षा ट्रांजिस्टर ज्यादा पसंद करने लगा हो। इसके सिवा, भारतीय गाँवों की, चाहे वे काँगड़ा मे हों या कुर्ग में या और कही, कुछ विशेषताएं है जो उनमें समानरूप से पाई जाती हैं——घर बिल्कुल पास-पास बने होते है और उनके चारों ओर फैले हुए खेत-मैदान होते हैं। उनमें कोई एक उपासना-गृह होता है, एक पाठशाला होती है, और एक चौपाल होती है जहाँ शाम को गाँववाले इकट्ठे होते है और गपशप और चर्चा करते है। इन गाँवों में भाषा, वेश-भूषा और उगाई जानेवाली फसलों की भिन्नताएँ है। लेकिन गाँवों के बीच जो समानताएं सदियों पहले मौजूद थीं वे और आज के गाँवो के बीच की समानताएं विलक्षण हैं। आज का गाँव राजनीतिक रूप से आंशिक रूप में स्वतंत्र है और वह अपना प्रबंध अपनी चुनी हुई पचायत द्वारा करता है। इसके साथ ही वह अपेक्षाकृत बड़ी इकाइयों का——जिले का, जिले के ऊपर राज्य का और राज्य के ऊपर राष्ट्र का——भी अंग है। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए भी गाँव आशिक रूप से स्वतंत्र है, और आंशिक रूप से कुछ तरह के सामानों के लिए शहरों और अन्य देहाती क्षेत्रों के ऊपर निर्भर है। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही भारत के अधिकाश गाँव इसी प्रकार संगठित रहे हैं। लेकिन पहले की सदियों की अपेक्षा आज का आधुनिक

भारतीय गाँव जिस जिले और राज्य मे अवस्थित है उनसे वह आर्थिक और राज-नीतिक रूप से ज्यादा घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ है।

आज पचायत का चुनाव सारे गाँववाले करते हैं। पहले जो गाँववाले सबसे ज्यादा जमीन के स्वामी होते थे वे ही सामान्यतया गाँव के शासन का नियन्त्रण करते थे। अक्सर ही जमीन का स्वामित्व एक परिवार-समूह के हाथों में होता था, कभी-कभी अलग-अलग व्यक्तियों और मंदिरो या मठों, अथवा स्वय राजा के हाथों में होता था। जहाँ तक नहरें खोदने या खेती के औजार खरीदने का सवाल था, संयुक्त स्वामित्व बहुत फायदेमंद था। गाँवों मे जमींदारों के अलावा काश्तकार, दस्तकार, लोहार, राज, बुनकर तथा पुरोहित थे। इन लोगों को उनकी सेवाओं के बदले में सालाना होनेवाली दो फसलों का एक निश्चित भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। इस हद तक वे लोग, जिनके पास कोई जमीन नहीं थी, भूमिधारी गाँववालों के ऊपर निर्भर थे। लेकिन जब व्यक्तिगत समस्याएं और प्रश्न उठ खड़े होते थे तब गाँववाले अपने गाँव के भूमिधारियों की नही बल्कि अपने धंधेवालों की बिरादरी की पचायत का सहारा लेते थे। जिन पंचायतो का हमने पहले उल्लेख किया है, ये पंचायतें उनसे भिन्न थी। एक बिरादरी की पचायत कुछ गाँवों के सामूहिक समानधर्मा लोगो द्वारा निर्वाचित होती थी। इससे पता चलता है कि विभिन्न गाँवों के लोगों में आपस मे सपर्क रहता था।

आर्थिक रूप से यद्यपि प्रत्येक गाँव अपने निवासियों की जरूरत भर का अनाज और अन्य चीजें पैदा करता था तथापि उसे कुछ चीजें——सामान्यत: लोहा, नमक और कभी-कभी कपड़ा——देहाती मेलो या निकटवर्ती शहरों से खरीदनी पड़ती थी। गाँव के समूहों को अक्सर यह सुविधाजनक होता था कि वे आपस मे मिल जाएँ और अपनी फसलों का, और अपने लोहारों तथा अन्य कारीगरों का मिल-जुलकर उपयोग करे। शेष देश के साथ इन संपर्को के अलावा, प्रत्येक गाँव को फसल का एक निश्चित भाग (कभी-कभी उसके बदले एक निश्चित धन-राशि) राजा या जमींदार को देना पड़ता था।

भारत के शहर भी गाँवो की तरह पिछली शताब्दी तक बहुत ज्यादा नही बदले थे। ऐतिहासिक काल के शहरों का वर्णन करने से पहले हम उन शहरों का जिक्र करना जरूरी समझते है जो उस जमाने में विद्यमान थे जिनका इतिहास हम नहीं जानते और जिनके काल के बारे में विवाद है। यह आरंभिक सभ्यता आज जो पाकिस्तान है, उससे लेकर मध्य भारत तक फैली हुई थी। उसके पुरातात्विक अवशेषों से पता चलता है कि उस काल मे कुछ अत्यंत सुदर ढंग से नियोजित शहर थे जिनमे काफी चौड़ी सडकें थीं और पानी के निकास की अत्यंत अच्छी व्यवस्था थी। आप ये सब चीजे पाकिस्तान में मोहन-जोदड़ो की खुदाइयों के फोटो-चित्रों में देख सकते हैं। उस जमाने में अत्यंत समृद्ध व्यापारिक केंद्र भी थे जो पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के साथ व्यापार करते थे। जिस सभ्यता ने इन शहरों को पैदा किया वह नष्ट हो गई—कब और कैसे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनके बाद इस देश में आकर बसने वाली और आर्य भाषाएँ बोलनेवाली जाति कृषक जाति थी। इनके आने के कई सदियों बाद जाकर फिर से बडे शहरों का निर्माण शुरू हुआ।

बहुत हाल के वर्षो तक सामान्य तौर पर उन्हीं स्थानों के निकट शहर बसते रहे जहाँ सरकार और व्यापार के केंद्र, तीर्थ स्थान और बंदरगाह थे। जो शहर राजनीतिक सत्ता के केंद्र थे उनका जीवन सदा बहुत अनिश्चित रहता था क्योंकि साम्राज्यो के पतन के बाद उनका भी ह्रास होने लगता था। तथापि कुछ स्थानो की स्थिति इतनी अच्छी थी कि वहाँ बार-बार शहर बसाए गए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण दिल्ली है जो सात बार राजधानी के रूप में चुनी गई है। इसका कारण यह है कि दिल्ली एक स्वास्थ्यप्रद स्थान है, यह एक नदी—यमुना—के तट पर स्थित है और बंबई तथा कलकत्ता के बंदरगाहों से इसका फासला लगभग बराबर है। अपने उत्कर्ष काल में ऐसे शहर अद्भुत रूप से वैभवशाली और ऐश्वर्यपूर्ण थे, जिनका जीवन सांस्कृतिक रूप से समृद्धि और आर्थिक रूप से संपन्नता से परिपूर्ण था। यह बात समय-समय पर विदेशी यात्रियो द्वारा दिए गए विवरणों से पता चलती है। चंद्रगुप्त मौर्य के काल में यूनानी राजनयज्ञ मेगास्थनीज

भारत आया था। चद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल मे चीनी यात्री फाह्यान ने भारत की यात्रा की थी, और शाहजहाँ के शासनकाल मे बर्नियर उसके दरबार में रहा था। सम्राट अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र से फाह्यान इतना प्रभावित हुआ कि उसने लिखा कि नगर के राजमहलों को मनुष्यों ने नही, जिन्न और प्रेतों ने बनाया होगा। शहरो में लघु उद्योग काफी विकसित हालत में थे और प्रत्येक उद्यम में काम करनेवाले कारीगरों और शिल्पियों के अपने-अपने संगठन थे। शिल्पियों में से अधिकांश लोग राजघराने के सदस्यों और नागरिकों के लिए तथा निर्यात के लिए आराम और भोग-विलास की वस्तुओं का उत्पादन करते थे। शहरों मे और गाँवों में भी एक ही जाति या एक ही धंधा करनेवाले लोग सामान्यतः एक ही बस्ती में रहते थे और अपना काम या व्यापार भी उसी बस्ती में करते थे। इसका मतलब यह कि उनके रहने के घर, थोक और फुटकर व्यापार की दूकानें, मनोरंजन केंद्र, राजनीतिक और सार्वजनिक स्थल, सभी कुछ एक ही जगह स्थित थे और आज के आधुनिक नगर में वे जिस तरह पृथक रूप से अवस्थित हैं, वैसा उस समय नही था। सन १८५७ के बाद भारत मे अंग्रेजों के शासनकाल के दौरान धीरे-धीरे बहुत से अंग्रेज परिवार भारत में रहने के ख्याल से यहाँ आकर बस गए थे। ये लोग सामान्यत. शहर के निकटवर्ती क्षेत्रों मे, लेकिन शहर से अलग, एक बिल्कुल अलग जाति की भाँति रहा करते थे।

पिछले पचास-साठ वर्षो के दौरान शहरो का इस प्रकार निर्माण या पुनर्निर्माण करने की कोशिश की गई है कि उनमे आवास, क्रय-विक्रय के केंद्र और औद्योगिक संस्थानों का अपना-अपना पृथक क्षेत्र हो। इन प्रयासों के पीछे यह विश्वास है कि यदि नगरों को, जहाँ एक छोटे से क्षेत्र में पहले ही बहुत घनी आबादी होती है, और ज्यादा घनी आबादी से बचाना है, यदि उन्हे अस्वास्थ्यकर और कुरूप होने से बचाना है, तो शहरों को बनाने से पहले उनकी सावधानीपूर्वक योजना बना लेनी चाहिए। चंडीगढ भारत में एक पूर्णतः पूर्व नियोजित आदर्श के आधार पर निर्मित किया जानेवाला ऐसा ही एक नगर है।

गाँवों में अपने और शहरों के उपयोग के लिए खाद्यान्न पैदा किया जाता था। वहाँ कपास जैसी फसलें भी पैदा की जाती थीं जिनसे तैयार माल का उत्पादन किया जाता था। गाँवों में खाद्यान्न और अन्य फसलें इतनी प्रचुर मात्रा में पैदा की जाती थी कि उनका विदेशों में निर्यात किया जा सकता था। भारत के प्राकृतिक साधनों के भंडार इतने विशाल हैं कि वह पूर्व-ऐतिहासिक काल से ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करता रहा है। पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप के साथ यह व्यापार समुद्री रास्तों से गुजरात, मलाबार, कोरोमंडल और बंगाल के तटों से तथा मध्य एशिया के साथ उत्तर भारत से होता था। बाद मे समुद्री रास्तों से दक्षिण-पूर्वी एशिया और चीन के साथ भी व्यापार किया जाने लगा। भारत से निर्यात होनेवाली मुख्य वस्तुएँ थीं. मसाले, कपास, कपड़ा, हाथी-दाँत और लकड़ी, दस्तकारी की वस्तुएँ, हाथी और मोर। ऐसी बहुत कम चीजें थीं जिन्हें भारत को दूसरे देशों से आयात करने की जरूरत पड़ती। इसका नतीजा यह था कि भारत से तरह-तरह का माल लादकर विदेशों को जाने वाले जहाज जब वापस भारत को लौटते थे तब चाँदी और सोने से लदे होते थे। भारत में बाहर से माल तो बहुत कम आता था लेकिन भारतीय व्यापारियों की तिजोरियों मे सोना-चाँदी भरता जाता था। व्यापार से होनेवाले इस मुनाफे से भारत की काफी बड़ी आबादी को फायदा तभी हो सकता था जब व्यापारी लोग इस मुनाफे को फिर से नए-नए ढंग की चीजों के उत्पादन में लगा देते, ज्यादा लोगों को काम पर लगाते और नए-नए बाजार ढूँढ़ने की कोशिश करते। यदि ऐसा किया गया होता तो भारत का उद्योग और व्यापार उतना ही व्यापक हो गया होता जितना कि सत्रहवीं सदी और उसके बाद यूरोप में फैला। ऐसा क्यों नहीं हुआ इसका एक कारण आंशिक रूप से राजनीतिक था। सामान्य रूप से भारत के शासकों ने (चीन के राजाओं की तरह ही) शिल्प संघों की सहायता नहीं की और न उन्हें ज्यादा बड़े बाजार ढूँढ़ने के लिए प्रोत्साहित ही किया, जैसा कि यूरोप के शासकों ने किया। कुछ शासकों ने अगर ऐसा करने का प्रयत्न भी किया तो उनके प्रयत्नों मे अक्सर युद्धों के कारण बाधा पैदा हो जाती थी। भारत के व्यापार की प्रगति न होने का एक कारण यह भी था

कि यहाँ इस देश की आर्थिक समृद्धि और संपन्नता के साथ-ही-साथ उस ढंग का कोई वैज्ञानिक विकास और तकनीकी परिवर्तन नहीं आ सका जैसा कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के कारण आया। सम्राट अकबर जैसा व्यक्ति, जिसे नई चीजों मे अद्भुत दिलचस्पी थी, कुछ विदेशी यात्रियों द्वारा भेंट की गई घड़ी जैसी चीज को महज एक कौतूहल की वस्तु और खिलौना समझता रहा, बजाय इसके कि वह उसे यंत्रों के क्षेत्र मे एक प्रगति समझता और इस प्रगति को समझने और उसका अनुकरण करने के योग्य समझता। दूसरी तरफ, भारतीय व्यापारियों को भय रहता था कि शासक लोग उनके मुनाफे का एक भाग राजकोष के लिए माँग लेंगे, और इसीलिए वे बहुत सावधान रहते थे और अपना मुनाफा बताते नहीं थे। जो मुनाफा वे कमाते थे वह अक्सर छिपा दिया जाता था; कभी-कभी वे उस धन को धार्मिक सस्थाओं को दान कर देते थे, या अक्सर आर्थिक दृष्टि से अलाभकर रत्नाभूषणों के रूप में परिवर्तित कर लेते थे। अतः भारत में आनेवाला धन बहुत थोड़े से लोगों को ही लाभ पहुँचा पाता था। यही नही, सार्वजनिक बैंकिग का रिवाज भी भारत में विकसित नही हुआ जैसा कि वह पंद्रहवीं शताब्दी के यूरोप में हुआ।

भारतीयों ने एशियाई व्यापार के क्षेत्र मे अपनी प्रमुखता सातवी शताब्दी से खोनी आरंभ कर दी, हालाँकि इस व्यापार में भारतीय माल का ही बहुत बड़ा भाग होता था। इस शताब्दी तक भारतीय लोग ही भारतीय समुद्र के स्वामी हुआ करते थे, लेकिन अब अरब लोग उनके प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रकट हुए। सोलहवी शताब्दी तक, जब पश्चिमी यूरोप के व्यापारी भी भारतीय समुद्र में सक्रिय रूप से व्यापार करने लगे, भारतीय जहाजों के जरिए होनेवाला व्यापार भारतीय तटों तक ही सीमित रह गया था। जहाँ तक भारत का सवाल था, उसके अंदर जो स्थानीय व्यापारिक संगठन थे, उनका यूरोपीय व्यापारियों के साथ कोई मुकाबला नहीं था। वह भारत, जिसने विगत काल में विदेशों से इतना धन खींचा था, अठारहवीं शताब्दी तक एक ऐसा देश बन गया जिसका यूरोपीयों को लाभ पहुँचाने के लिए शोषण किया जा रहा था।

जिस काल में ब्रिटेन संपूर्ण भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम कर

रहा था, लगभग उसी काल में स्वय ब्रिटेन उस प्रक्रिया से गुजर रहा था जिसे 'औद्योगिक क्रांति' के नाम से जाना जाता है। यह वह प्रक्रिया थी जिसमें घरों में तैयार होनेवाला माल अब यंत्रों की सहायता से कारखानों में व्यापक पैमाने पर तैयार किया जाने लगा था जिससे कम समय मे ज्यादा माल तैयार करने मे मदद मिलने लगी। जब यह प्रक्रिया चल रही थी तब ब्रिटिश उत्पादकों ने अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल अन्य देशों से खरीदना शुरू किया और बदले में ब्रिटेन में तैयार होनेवाला माल उन्होंने कच्चा माल बेचनेवाले देशो को बेचना शुरू किया। इसी काल में——अठारहवीं शताब्दी में——ब्रिटेन द्वारा भारत की राजनीतिक विजय भी निरतर बढती जा रही थी। भारत ब्रिटेन को कुछ महत्वपूर्ण कच्चा माल देता था; इनमें सबसे प्रमुख निर्यात था: कपास, कपास के बाद पटसन, गन्ना और तंबाकू। भारत ब्रिटेन में सस्ते में बड़े पैमाने पर तैयार होनेवाले माल का——विशेष रूप से कपड़े का सबसे बड़ा ग्राहक भी बन गया या बनने पर विवश किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत के कुछ परंपरागत शिल्प और उद्योगों का ह्रास होने लगा क्योंकि वे कारखानों में तैयार होनेवाले ब्रिटिश माल के साथ होड करने की स्थिति में नही थे। हजारों मील दूर से भारत की अर्थ-व्यवस्था का ब्रिटेन द्वारा इस प्रकार का नियंत्रण बहुत कठोर था, और उसने भारत को जितना कमजोर किया उतना इससे पहले किसी चीज ने नहीं किया था। यह परिवर्तन व्यापारिक फसलों के विकास में देखा जा सकता है। किसान लोग नकदी फसल की खेती करने लगे जिन्हें लोगों को भोजन देने के लिए नहीं बल्कि नकद दाम पर बेचने के लिए पैदा किया जाता था। देश के कुछ भागों में अमुक प्रकार की चीजें, जैसे चाय या कपास बडे पैमाने पर पैदा की जाने लगी, जिन्हें नकद रुपयों के बदले बेचा जाता था। इस धन से किसान लोग अन्य क्षेत्रो से अपने खाने के लिए खाद्यान्न खरीदते थे और अपना लगान ब्रिटिश सरकार को चुकता करते थे। (यह अंग्रेज सरकार, पहले के शासकों के विपरीत, इस बात पर आग्रह करती थी कि लगान नकद रुपयों के रूप मे चुकता किया जाना चाहिए।) इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत की अर्थ-व्यवस्था सामान्यरूप से मुद्रा-प्रधान हो गई थी——अर्थात मुद्रा का प्रयोग

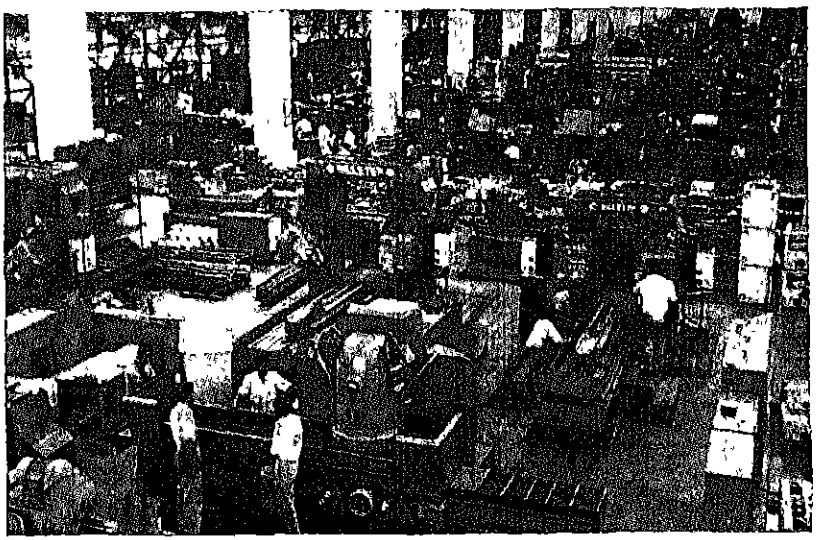
बढ़ गया था। इस समान तत्त्व के कारण, और साथ ही विभिन्न फसलें उगाने में विशेपता प्राप्त करनेवाले क्षेत्रों की परस्पर निर्भरता, और इन सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थानों तक शीघ्रता से पहुँचाने के लिए देशव्यापी सड़कों के निर्माण के कारण इस देश का आर्थिक रूप से इस प्रकार एकीकरण हो गया जैसा कि इससे पहले कभी नहीं था। एक राजनीतिक तत्त्व ने भी इस प्रक्रिया को तेजी प्रदान कर दी--और यह राजनीतिक तत्त्व था उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारत में युद्धों का अभाव और लगातार शांति की स्थापना।

नकदी के रूप में लगान जमा करने की व्यवस्था से अधिक गरीब किसानों के ऊपर कठिनाई भी आई। लगान अदा न कर सकने के कारण उनके सामने जमीन छोड़ देने के अलावा कोई चारा ही नही रहा और उनमें से बहुत से लोग अन्य धंधों की तलाश में शहरों में चले गए। शहरों की ओर जिन्होंने रुख किया उनमे वे कारीगर और शिल्पी भी थे जो ब्रिटेन की प्रतिस्पर्द्धा के कारण बेरोजगार हो गए थे। इन दोनों वर्गों ने शहरों की आबादी बढ़ा दी और गाँवों और शहरों के बीच एक कड़ी कायम कर दी क्योंकि कई परिवार ऐसे थे जिनके सदस्य गाँवों और शहरों, दोनो जगहों पर थे।



उन्नीसवी शताब्दी के अंत में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यह था औद्योगीकरण का आरंभ। इसका प्रथम उद्देश्य देश के कोयले और लोहे की समृद्ध सपदा का उपयोग करना था जिनका इससे पहले कोई उपयोग किया ही नहीं गया था।

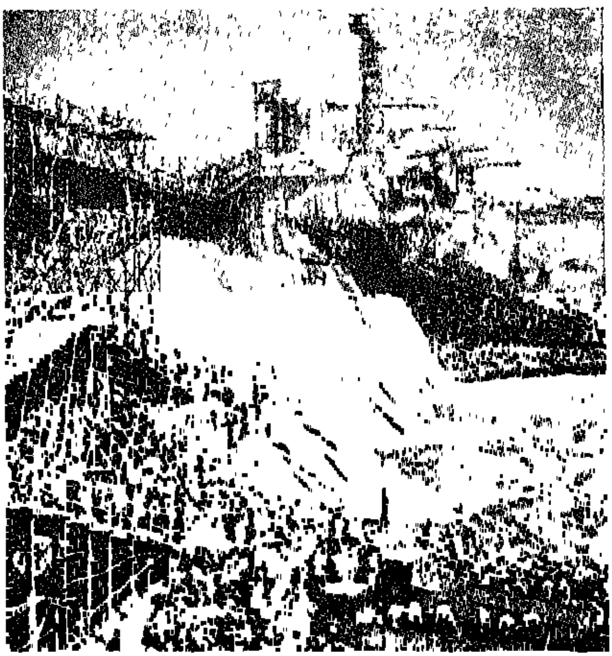
यही नही, यह लघु कुटीर उद्योगों की जगह बड़े कारखानोंवाले उद्योगों की स्थापना का प्रयास भी था। औद्योगीकरण से प्राप्त होनेवाला एक तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण लाभ जो हमे हुआ वह शायद यह है कि औद्योगीकरण की तकनीकों को स्वयं जानने के बाद हम भारत मे वे चीजें बना सकते हैं जिनको प्राप्त करने के लिए हमें ज्यादा विकसित देशों पर निर्भर करना होता था। आज ऐसा कोई कच्चा माल नही है जो अन्य देश भारत से आयात करना चाहते हो। इसका कारण यह है कि वास्तविक सामान



बंगलौर के 'हिंदुस्तान मशीन टूल्स' कारखाने का एक दृश्य

की जगह नकली माल, जैसे नाइलोन का, ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग किया जाने लगा है। भारत के सामने दूसरी बाधा यह है कि अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या के कारण उसे अपने यहाँ पैदा होनेवाले सारे खाद्यान्न की स्वयं जरूरत होती है और वह उसका

ज्यादा निर्यात नही कर सकता। ये दो तत्व हमारे लिए यह आवश्यक कर देते है कि हमें खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्म-निर्भर और जहाँ तक हमारी औद्योगिक आवश्यकताओं का प्रश्न है कम-से-कम आंशिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाना चाहिए। यही कारण है कि हमारे इस्पात कारखाने और हमारी पन-बिजली योजनाए तथा हमारी अनेक लघुउद्योग योजनाएं हमारे लिए बहुत महत्व रखती हैं।

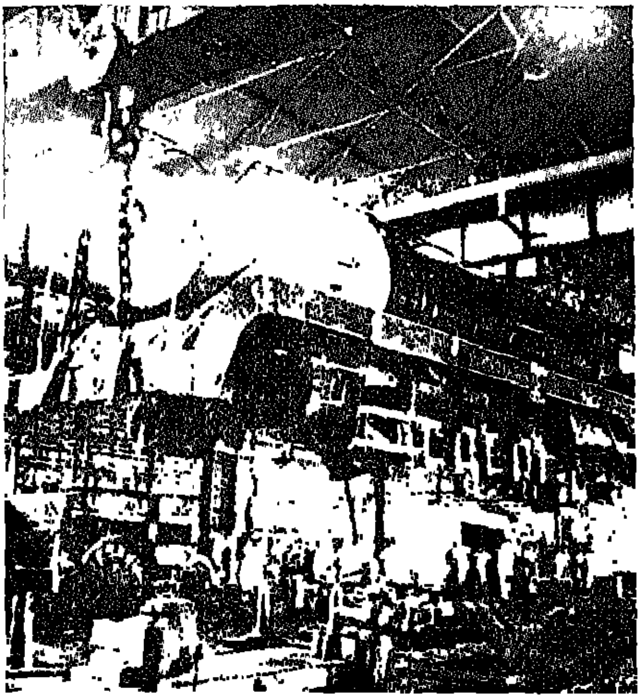


नागार्जुन सागर बांध का निर्माण-कार्य



अभी हमने अपनी जन-सख्या-बृद्धि का जो जिक्र किया सो वह भी पिछले एक सौ साल का परिणाम है। ग्रामीण और शहरी भारत का जिस समय आधुनिकीकरण

हो रहा था, उसके साथ ही साथ जन-सख्या भी बढ़ रही थी। इसका एक मुख्य कारण यह था कि ज्यादा बेहतर स्वास्थ्य-सुविधाओं के कारण बाल-मृत्यु की सख्या घट गई और लोग अपने पितामहो या अपने पूर्वजों की अपेक्षा ज्यादा दीर्घजीवी हो गए।



चित्तरजन के इजन बनाने के कारखाने मे विभिन्न पुर्जों के जोडने का कार्य

हम ठीक-ठीक नही कह सकते कि पहले की सदियों में भारत की जन-सख्या क्या थी, लेकिन १८८१ से--भारत में प्रथम जन-संख्या गणना होने के समय से--हमारे पास ठीक-ठीक ऑकडे है। इनसे, और इनमे पहले के मोटे अनुमानों को देखते हुए जन-संख्या

तेजी से बढ़ती नजर आती है—यानी १८०० में जो जन-संख्या १३ करोड़ थी, वह आज ५० करोड़ हो गई है।

हालाँकि स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएँ बढ़ रही थी, लेकिन साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि कुछ ऐसे क्षेत्र थे जहाँ सिंचाई और संचार की अच्छी व्यवस्था के अभाव में जब कभी वर्षा नहीं हुई तब घोर अकाल भी पड़ा। यहाँ तक कि हाल ही में—१९६६ में—देश के कुछ भागों मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। सिंचाई और परिवहन सेवाओं में जबर्दस्त सुधार किए गए हैं, लेकिन इससे पहले कि हम वर्षा पर निर्भर करने की सदियों पुरानी आदत छोड़ सकें, सिंचाई और परिवहन सेवाओं का व्यापक विस्तार करने की जरूरत है।

भारत की आर्थिक समस्याएँ इतनी बड़ी हैं कि जब १९४७ में भारत स्वतंत्र और एकीकृत हुआ तब उसके नए शासकों ने सोचा, और ठीक ही सोचा कि आर्थिक नीति को सरकारी क्रिया-कलाप का आवश्यक अंग बना देना चाहिए। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण निर्णय जो लिया गया वह एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था-विषयक था, जिसका उद्देश्य था कि सारे देश के लिए पूरे पाँच वर्ष के लिए एक सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसी योजनाओं के अंतर्गत विशिष्ट विषयों पर किए जानेवाले खर्च का निर्धारण कर दिया जाएगा और विभिन्न सूत्रों से सरकार को होनेवाली निश्चित आय की सुनिश्चितता हो जाएगी। एक ऐसे देश में जो संक्रमणकाल से गुजर रहा है, यानी जो मुख्यतः कृषि-प्रधान व्यवस्था से अंशतः कृषिकर और अंशतः औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था मे परिणत होता जा रहा है, सुव्यवस्थित आर्थिक विकास का यह सर्वोत्तम तरीका है। योजना कुल मिलाकर उत्पादन बढ़ाने में सहायक होती है और प्रत्येक क्षेत्र में उस वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन भी देती है जिसके उत्पादन के लिए वह क्षेत्र सबसे अधिक उपयुक्त है, और इसके साथ ही वह ऐसे क्षेत्रों में भी उद्योगों की स्थापना मे सहायक होती है जिन्हे यदि उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो वे गरीब और पिछड़े क्षेत्र ही रहेंगे। संपूर्ण देश की आर्थिक व्यवस्था की आयोजना करके गरीबी का उंमूलन किया जा सकता है और प्रगति की जा सकती है।

ऊपर जो कुछ बताया गया है उससे आप ऐसा न समझें कि भारत की आर्थिक व्यवस्था पर पूरी तरह सरकार का नियंत्रण है। भारत पूरी तरह एक समाजवादी देश नहीं है--अर्थात, यह ऐसा देश नहीं है जहां संपत्ति पर व्यक्ति का निजी अधिकार नहीं बल्कि राज्य का अधिकार है। यदि ऐसा होता तो सरकार आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल



बंगलोर स्थित 'हिन्दुस्तान मशीन टूल्स' कारखाने का भारी मशीन विभाग

तानाशाह होती। इसमें तो सरकार को उचित से ज्यादा अधिकार प्राप्त होता। लेकिन साथ ही भारत पूरी तरह पूँजीवादी देश भी नहीं है--यानी, ऐसा देश नहीं है जहाँ की अर्थ-व्यवस्था पूरी तरह से व्यक्तियों के निजी हाथ में हो। ऐसी अर्थ-व्यवस्था

में अत्यंत महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णय ऐसे लोगों के हाथों में होगा, जिनके हित सभव है राष्ट्रीय हितों से मेल न खाते हों। इसके सिवा, किसी बहुत ज्यादा खर्चीली औद्योगिक योजना में, जैसे कि इस्पात का कारखाना ही लें, हो सकता है कि एक या एक से अधिक व्यक्तियों के पास पूँजी लगाने के लिए धन उपलब्ध न हो, जब कि राज्य के पास ऐसी किसी योजना को शुरू करने के लिए पर्याप्त धन होगा। इसलिए जो बीच का रास्ता निकाला गया है वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था का कुछ अंश सरकार के नियत्रण में रहे और कुछ अंश व्यक्तियों के हाथ में।

हमने एक मोटा खाका खींचा है कि भारतीय लोग एक जमाने से किस प्रकार रहते रहे है। बहुत-सी चीजें है जो भारत मे ज्यों-की-त्यों बनी हुई है और इतने लंबे अर्से में भी बदली नहीं; जैसे रहट की मंथर लय अब भी सुनी जा सकती है, किसान अभी भी खेतों में हाथ से दाने छिड़कते है, सुनार लोग हाथों से सुंदर बारीक कारीगरीवाले गहने गढ़ते है, गृहणियाँ घरो में चरखे पर सूत कातती है। ये ऐसे दृश्य है जो हमारे पूर्वजों को सदियो बाद आज देखने पर भी सुपरिचित लगेंगे। लेकिन कुछ अन्य ऐसी चीजें भी है जो उन्हें उलझन और परेशानी में डाल देंगी, जैसे इस्पात की भट्टी से निकलता हुआ धुआँ, खेतों को जोतता हुआ ट्रैक्टर, एक विराट बाँध से प्रबल वेग से गिरता पानी का विशाल झरना। भारत इन्हीं पारपरिक और आधुनिक वस्तुओं का एक मिश्रण है, और आपको पारंपरिक चीजों में जो उपयोगी है उसके प्रति आदर भाव रखते हुए जो कुछ आधुनिक है उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए।



## २—हमारे सामाजिक समूह

*"मंदिर और मस्जिद मे, हिंदू और मुसलमान की प्रार्थना में कोई भेद नहीं है। सभी मनुष्य समान हैं। वे भिन्न हैं, ऐसा सोचना गलत है।"*

—गुरु गोविंद सिंह

आप मे से अधिकांश लोगों के ऐसे मित्र होंगे जो अन्य धर्मावलंबी हैं या भिन्न प्रात के रहनेवाले हैं या भिन्न भाषा बोलते है। और आप में से जिन्हें भारत के अन्य भागों में यात्रा करने का अवसर मिला होगा उन्होंने देखा होगा कि किस प्रकार अन्य क्षेत्रों के लोगों के रीति-रिवाज, भोजन-संबंधी आदतें और वेश-भूषा आपके यहाँ से भिन्न है। भारत का यह एक ऐसा पहलू है जो सबसे ज्यादा आकर्षक है—भारत एक बहुरंगी मानचित्र है, और उसकी सांस्कृतिक समृद्धि को समझ सकना एक ही जन्म में असंभव है। आप चाहे कोई भी काम या धंधा करते हों, यदि आप अपने राष्ट्र में मौजूद इस व्यापकतर एकता में कुछ दिलचस्पी लें, तो आप अपने जीवन का कहीं अधिक आनंद उठा सकेंगे। जो ऐसा करने की परवाह नहीं करते, वे भारत के नागरिक कहलाने योग्य नहीं हैं। ऐसे लोगों के लिए संस्कृत की 'कूप-मडूक अर्थात कुएँ का मेंढक की उपमा ठीक ही दी जा सकती है : ऐसा व्यक्ति जो कुएँ के मेंढक के समान केवल अपने चारों ओर की सीमित जगह को ही देख पाता है और इस बात का उसे कोई



'\

ज्ञान ही नहीं है कि बाहर एक कोई बडी दुनिया भी है। कुछ लोगों की यह संकीर्ण दृष्टि विगत काल में भारत की राजनीतिक और सामाजिक दुर्बलता का एक प्रधान कारण रही है। हम इसे आगे जारी नहीं रहने दे सकते।

भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता का एक कारण यह है कि इसमें बहुत सारी जातियों के लोग रहते हैं जो भिन्न-भिन्न समय पर भारत में आए, और वहाँ पहले से ही मौजूद लोगों में घुल-मिल गए। इस देश के सबसे पुराने निवासी आस्ट्रेलायड जाति के थे जो दक्षिण एशिया और आस्ट्रेलिया में बसे हुए थे। उनके बाद प्रोटोआस्ट्रेलायड आए जो शायद पश्चिम एशिया में रहनेवाली जातियों के अंग थे। ये लोग द्रविड़ भाषाएं बोलते थे। इनके पीछे मध्य एशिया के नार्डिक लोग आए जो आर्य भाषा बोलते थे, जिसे कि यूरोप में बस जानेवाली उनकी जाति के लोग भी बोलते थे। इनके बाद आनेवाली जातियाँ थीं, तुर्क, अरब, फारसी और अफ़गान। उत्तर-पश्चिम की ओर से आनेवाली इन जातियों के सिवा भारत में ऐसे छोटे जाति समूह भी हैं जैसे असम और बंगाल के मंगोल-मूलक व्यक्ति (जो बर्मा और दक्षिण-पूर्व एशिया के लोगों के समान हैं), भारत के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्र के अरब और पश्चिमी तट पर बस जानेवाले कुछ यूरोपीय।

हम इतिहास में जितना ही पीछे जाएं उतना ही दुष्कर यह निश्चित कर सकना है कि अमुक काल में समाज किस प्रकार का था। आर्यों के आने से पहले समाज की रचना कैसी थी इसका हमें बहुत ठीक ज्ञान नहीं है। हालाँकि हमें मालूम है कि आरंभिक काल में एक सुसंपन्न सभ्यता भारत में मौजूद थी जिसमें लोगों ने बड़े-बड़े नगरों की रचना की थी और जो पश्चिमी एशिया के देशों के साथ व्यापार करते थे, लेकिन उनके सामाजिक वर्गों के बारे में, उनके पारिवारिक जीवन के बारे में, उनके मनोरंजन के साधनों के विषय में हमें कुछ भी मालूम नहीं है। इतना हम जरूर जानते हैं कि हिंदू धर्म के रूप में आगे चलकर प्रसिद्ध होनेवाले धर्म के कुछ अंग, जैसे शिव और शक्ति की पूजा द्रविडों की पूजा के अंग थे और बाद में वे आर्य धर्म के अंग बन गए।

जब आर्य लोग गंगा के मैदान में, और बाद में दक्षिण में बस गए, तब वे द्रविड़ों

के साथ समानता के स्तर पर व्यवहार करने को तैयार नही थे। अतः उन्होंने जाति के आधार पर--विजेता जाति (आर्य) और विजित जाति (द्रविड़ जिन्हें वे तिरस्कारपूर्वक 'दास' कहते थे)--एक सामाजिक भेद किया। इसका यह अर्थ नही था कि दोनो जातियाँ बिल्कुल एक-दूसरे से अलग रहती थीं। वे सामाजिक रूप से एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं, और कालातर में उनमें परस्पर विवाह-संबंध भी होने लगे, और फिर आगे चल कर तो यह बताना कठिन हो गया कि कौन शुद्ध आर्य है और कौन शुद्ध द्रविड़। जातियों के बीच का यह भेद जातियों की स्थापना का पहला चरण था। आर्य-भाषी लोगों के बीच धंधे के आधार पर तीन प्रकार का सामाजिक विभाजन था--पुरोहित वर्ग, योद्धा वर्ग और समाज का शेष भाग। धर्म और शिक्षा पर नियंत्रण होने के कारण पुरोहित वर्ग को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त था। आगे भी सामान्यतः यही स्थिति बनी रही, हालांकि कुछ स्थानों मे जातियों के बीच श्रेष्ठता का यह मौलिक क्रम नहीं माना जाता था। ऐसा भी होता था कि गैर-ब्राह्मण व्यक्ति-समूह या उप-जातियाँ अपने-आप को ब्राह्मण अभिषिक्त करा लेते थे ताकि वे सामाजिक श्रेष्ठता का लाभ उठा सकें जो कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक लोगों के लिए बहुत सहायक थी। इसी प्रकार मध्य एशिया से आनेवाले आक्रमणकारी--हूण, शक (सीथियन), पार्थियन और अन्य जातियाँ--भारतीय समाज का अंग बन सकी। हालांकि वे विदेशी विजेताओं के रूप में भारत आए, लेकिन विजय के बाद वे इस देश के सामाजिक ढाँचे को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने भारत की ही एक उप-जाति के रूप मे समाज मे स्थान प्राप्त किया और कुछ समय बाद उन्होंने ब्राह्मणों से अनुरोध किया कि वे उन्हें ब्राह्मणों का विशिष्ट दर्जा प्रदान कर दें। इस प्रकार जाति-प्रथा ने सामाजिक संबंधों को एक आधार प्रदान किया और विदेशियों को भारतीय समाज में स्थान प्राप्त करने मे सहायता की। यदि स्थानीय निवासी उन्हें विदेशी मानते तो वे समाज में यह स्थान प्राप्त नही कर सकते थे।

जाति-प्रथा की कुछ बुराइयाँ भी थीं। विभिन्न जातियों के लोगों के बीच मुक्त संबंधों का हो सकना कठिन हो गया। स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक

स्थिति बिगड़ गई---स्त्रियाँ, जिन्हें आर्यों के आगमन के आरंभिक काल में पुरुषों के समकक्ष माना जाता था, बाद के काल में उनका दर्जा पुरुष से नीचा हो गया, उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी जाती थी, और उन्हें सती जैसी क्रूर प्रथा का पालन करना पड़ता था---यानी जब किसी स्त्री का पति मर जाता था तब उस स्त्री को अपने मृत पति के शव के साथ चिता में जल जाना पड़ता था।

जाति-प्रथा ने ब्राह्मणों द्वारा नियंत्रित हिंदू धर्म को एक जटिल और विस्तृत धर्म का रूप दे दिया। आरंभिक आर्यों का धर्म एक सरल, आनंदपूर्ण और स्वस्थ धर्म था, जिसमें ईश्वर के प्रति इस बात के लिए कृतज्ञता का भाव था कि उसने उन्हें उपजाऊ गंगा की घाटी का रास्ता दिखाया था। यह धर्म साहचर्यता की भावना से परिपूर्ण था, भविष्य के लिए आशा से भरा हुआ था। कालांतर में धर्म की यह स्पष्टता कर्मकांड और अत्यंत अस्पष्ट दार्शनिक धारणाओं के कोहरे के कारण धुँधली पड़ गई। ब्राह्मणों को इन कर्मकांडों और दार्शनिक कल्पनाओं का ज्ञान होना जरूरी था, और इस अनन्य ज्ञान के कारण वे एक ऐसा श्रेष्ठ वर्ग बन गए जिसकी श्रेष्ठता में कोई शंका नहीं कर सकता था। जैसा कि अलग-अलग समयों पर अन्य देशों में भी हुआ है, इस प्रकार के रवैये का परिणाम यह हुआ कि अन्य जातियों ने इसके विरुद्ध रोष और विरोध प्रकट किया। युवा लोगों---गौतम बुद्ध से लेकर स्वामी विवेकानंद तक---द्वारा किए गए इसी प्रकार के विरोधों ने हिंदू धर्म और भारतीय समाज के शरीर को स्वस्थ बनाए रखा है।

सबसे प्रबल विरोध का नेतृत्व छठी शताब्दी में दो व्यक्तियों ने किया जो समकालीन थे और देश के दो भिन्न भागों में रहते थे। ये थे महावीर और गौतम बुद्ध। महावीर का विरोध जाति पर आधारित वर्ग-भेद के विरुद्ध था। उनका कहना था कि सभी मनुष्य समान हैं; वस्तुतः सभी जीवधारी वस्तुएँ समान हैं। उन्होंने एक अधिक करुणामय जीवन व्यतीत करने का उपदेश किया जिसमें कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या न करे। यह हद दरजे की अहिंसा थी, और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि महावीर और अन्य जैन संतों का प्रभाव सीमित रहा। बुद्ध ने भी

जाति-प्रथा का विरोध किया और सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश किया, जिसमें न बहुत भोग-विलास हो और न बहुत कठोर सादगी । बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया था, उस धर्म की अपनी प्रारंभिक अवस्था में बहुत सीमित प्रभाव-कारिता थी क्योंकि वह लगभग गैर-धार्मिक था—उसका उद्देश्य जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाना था, स्वर्ग-प्राप्ति और ईश्वर के दर्शन पाना नही। इस तथ्य के बावजूद कि धर्म के रूप मे न तो जैन धर्म और न बुद्ध धर्म ही व्यापक हो पाए, इन दोनों धर्मो मे एक समान तत्व ऐसा था जिसने उन्हें जनता में लोकप्रिय बना दिया। वह यह था कि इन दोनो सुधारकों ने अपने उपदेश पाली भापा में किए जो जनता के लिए सुबोध भापा थी, न कि ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होनेवाली सस्कृत भापा में। हिंदू धर्म को इन नए संप्रदायों से जो खतरा उत्पन्न हुआ उसका एक अप्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि हिंदू ब्राह्मणों ने अपने धर्म मे से ऐसी चीजो को निकालने का प्रयत्न किया जो निरर्थक और शुद्ध कर्मकांडी थीं। नव हिंदू धर्म के एक सबसे प्रतिभाशाली नेता थे शंकराचार्य। उन्होंने अनुयायी बनाने के लिए सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थ करने और सेवा कार्य करने के बौद्ध उपदेशकों के तरीके का अनुकरण किया।

भारत में इस्लाम का प्रवेश जैन और बौद्ध धर्मो के उद्भव से ज्यादा नाटकीय था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि इस्लाम एक विदेशी धर्म और जीवन का एक नया तरीका था, जब कि जैन और बौद्ध धर्मो का उद्भव भारतीय समाज के भीतर से हुआ था। इस्लाम कई लहरो में भारत पहुँचा—दक्षिण तटवर्ती प्रदेश में वह सातवीं शताब्दी में, उत्तर-पश्चिमी भारत में आठवी शताब्दी में, और भारत के उत्तरी मैदानों में तेरहवीं शताब्दी और उसके बाद के वर्षो में। भारत के मुस्लिम विजेता अपने से पहले के विजेताओं से इस अर्थ में भिन्न थे कि वे न केवल अपने साथ बड़ी-बडी फौजें लाए, बल्कि अपना एक धर्म भी लाए और साथ लाए एक बहुत विकसित संस्कृति।

आज भी धर्म के रूप में इस्लाम धर्म हिंदू धर्म से काफी भिन्न है, हालाँकि इन दोनों ने एक दूसरे के रीति-रिवाजों और त्यौहारों को आत्मसात करके अपने को समृद्ध किया है। इस प्रकार के आत्मसात का सबसे अच्छा उदाहरण सूफी पीर है।

सूफी लोग मुसलमान रहस्यवादी संत थे जिन्होंने बौद्धों और जैनों की भाँति, जो उनके समय से बहुत पहले हुए थे, धर्म में अत्यधिक कर्मकाड तथा धर्म की अलोचनीयता के विरुद्ध तथा धर्म को राजनीति में मिलाने के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उनका कहना था कि साधारण जनता को धर्म समझाने के लिए मुल्ला-मौलवियों का होना जरूरी नही है, और व्यक्ति तथा ईश्वर के बीच का सूत्र, प्रेम का सूत्र होना चाहिए। उत्तरी भारत में इन सूफियों के हिंदू और मुसलमान, दोनों ही अनुयायी बने। इन्होंने ज्यादा अधिक अप्रत्यक्ष रूप में दोनों धर्मों को निकट लाने में सहायता की——अर्थात उन्होंने हिंदू धर्म में चल रहे इसी प्रकार के भक्ति और समतावादी आंदोलन को प्रभावित किया। यह आंदोलन था भक्तिमार्गी आदोलन जो अलवारों और नयन्नारों के संप्रदाय के साथ दक्षिण भारत मे छठी शताब्दी में आरंभ हुआ और पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। यह कहना ज्यादा सही होगा कि यह एक आंदोलन नहीं, बल्कि एकाधिक आंदोलन थे क्योंकि यह विभिन्न समयों में भारत के विभिन्न भागों में प्रस्फुटित हुआ और फैला। पहले के जैन और बौद्ध संतों की भाँति ही सूफियों और भक्तिमार्गी संतों ने अपने उपदेश का प्रचार संस्कृत मे नहीं बल्कि क्षेत्रीय भाषाओं में किया——अलवारों और नयन्नारों ने तमिल में, चैतन्य और चंडीदास ने बंगला में, मीराबाई ने राजस्थानी में, नामदेव ने मराठी में, रामानंद, कबीर और नानक ने अपभ्रंश और प्राकृत में। इन सुधारकों में से कबीर और नानक ने हिंदू धर्म और इस्लाम के अच्छे गुणों को लेकर उन्हें एक धर्म मे मिलाने की कोशिश की। नानक की उपलब्धि अमर रही——उन्होंने सिख धर्म की स्थापना की।

धार्मिक स्तर पर संपर्क होने के सिवा सामान्यत. मुसलमान और हिंदू लोग मिल-जुल कर रहते थे। जबर्दस्ती मुसलमान बनाने के कुछ मामले होते थे, लेकिन ऐसा किसी असहिष्णु शासक के आदेश पर ही किया जाता था। मुसलमान चूँकि अल्पसंख्या में थे, अतः यदि भारत में स्थायी रूप से रहना था तो उन्हें उसी कारणवश बहुसंख्यक हिंदुओं के साथ मैत्रीपूर्ण सबंध बनाकर रखना जरूरी था। समय के साथ-साथ मुसलमानों की संख्या में वृद्धि हुई। इस वृद्धि का कारण यह था कि तुर्क और अफगान

सैनिकों ने स्थानीय हिंदू स्त्रियों से विवाह किया; साथ ही, समय-समय पर भारत में न केवल विजेता आक्रामक सेनाएं ही आईं बल्कि अफगानिस्तान से उखाड़ फेंके गए कबीले भी शरण लेने के लिए भारत में आए। कुछ महत्वाकांक्षी हिंदुओं ने इस आशा से स्वेच्छा से भी इस्लाम धर्म कबूल कर लिया कि इससे उन्हें राजनीतिक पद मिलने का ज्यादा मौका रहेगा। बाहर से आनेवाले अधिकांश मुसलमान शहरों में रहते थे और या तो राजनीतिक पदों पर थे या कोई व्यापार अथवा धंधा करते थे। यहाँ हिंदू-मुसलमानों के बीच का अंतर ज्यादा महत्व नहीं रखता था, पेशे और धंधे का अंतर ही वास्तविक महत्व का था। ग्रामीण क्षेत्रों के मुसलमान ज्यादातर वे लोग थे जिन्हें मुसलमान बना लिया गया था। ये लोग बाहर से आए हुए मुसलमान नहीं थे। ये लोग धर्म-परिवर्तन के बाद भी हिंदू समाज के बीच, जिसके कि वे पहले सदस्य हुआ करते थे, रहते रहे। गाँवों की अपेक्षा शहरों में इस्लाम धर्म का प्रभाव ज्यादा स्पष्ट था--लेकिन दोनों जगहों पर भोजन की नई आदतें और नई वेश-भूषा की शैली दिखाई पड़ी। दोनों धर्मों के सह-अस्तित्व का एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि दोनों जातियों के उच्चवर्ग की महिलाएं अलग जीवन व्यतीत करने लगीं और उत्तर तथा पूर्वी भारत में पर्दे का रिवाज आम हो गया।

इस्लाम के आगमन जैसा ही महत्वपूर्ण, और उससे अनेक दृष्टियों से भिन्न था--भारत में ईसाई धर्म और यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव। ईसाई धर्म यूरोप पहुँचने से काफी पहले ही भारत पहुँच चुका था। कुछ ईसाई मिशनरी पहली सदी ईसवी में केरल के तट पर आए थे। आज भी दक्षिण भारत में ईसाइयों की एक ऐसी जाति है जिनके पूर्वजों ने सबसे पहले ईसाई धर्म कबूल किया था। इसके काफी समय बीत जाने के बाद ईसाई धर्म फिर से भारत में आया। अबकी बार के ईसाई मिशनरी सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगाल, हालैंड, डेनमार्क, फ्रांस और ब्रिटेन के व्यापारियों के साथ भारत आए। इस्लाम के मुकाबले ईसाई धर्म का प्रभाव गौण था, धर्म-परिवर्तन करके ईसाई होनेवालों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। इसका मुख्य कारण यह था कि

यूरोपीय लोग भारत में उस प्रकार नहीं बसे जिस प्रकार कि मुसलमान प्रवासी आकर बस गए थे। तथापि इस्लाम की भाँति ही ईसाई धर्म ने भारत की धार्मिक विचार-धारा को प्रभावित किया। इसे (१८२८ में) ब्राह्म समाज की स्थापना में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसकी स्थापना राजा राममोहन राय के नेतृत्व मे भारतीयों के एक समूह ने की थी। इसका उद्देश्य वैदिक हिंदू धर्म को पुनरुज्जीवित करना तथा हिंदू धर्म में ईसाई धर्म की सर्वोत्तम पूजा-विधि को सम्मिलित करना था तथा विभिन्न धर्मों की समानता को भारतीयों के सामने स्पष्ट करना था।

पश्चिमी सभ्यता का सामाजिक प्रभाव उसके धार्मिक पहलू की अपेक्षा ज्यादा क्रांतिकारी था। ब्राह्म-समाज की स्थापना करनेवालों की यह भी इच्छा थी कि वे अंग्रेजी सीखें और यूरोप में चल रहे बौद्धिक आंदोलनों और यूरोपीय समाज के स्वरूप को समझें। अमरीका का स्वातन्त्र्य-युद्ध (१७७६) और फ्रांसीसी क्राति (१७८९) विभिन्न देशों के निवासियों द्वारा राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता प्राप्त करने के सबसे पहले आदोलन थे। ऐसे आंदोलन भारत में अज्ञात थे जहाँ कि जनता के अधिकांश भाग ने कभी उस वर्ग-विभाजन के विरुद्ध आवाज उठाने और सामाजिक समानता की माँग करने की कोशिश ही नही की थी जिसमें कि वे पैदा हुए थे। एक तरीका जिसके जरिए विचारशील भारतीयो ने उन्नीसवी शताब्दी मे अपने देशवासियों को जागृत करने और समाज के आधुनिकीकरण की कोशिश की वह था धर्म का शुद्धीकरण तथा समाज मे जो बुराइयाँ पनप गई थी उनका उमूलन। राममोहन राय का ब्राह्म-समाज, सैयद अहमद खाँ का अलीगढ आंदोलन (जो १८७५ में आरंभ किया गया था), रानाडे द्वारा चलाया गया प्रार्थना समाज, दयानंद के नेतृत्व में आरंभ किया गया आर्य समाज आंदोलन, रामकृष्ण द्वारा प्रेरित और उनके शिष्य विवेकानंद द्वारा प्रचारित-प्रसारित सामाजिक सेवा आंदोलन—ये सब सोए हुए भारतीय समाज को जगाने के प्रयास थे। यह बात दिलचस्प है कि संस्कृत और फारसी की शिक्षा की बजाय पश्चिमी कला और विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी भाषा मे देने की माँग अंग्रेजों की

ओर से नहीं बल्कि राममोहन राय की तरफ से आई जो स्वयं एक भारतीय थे और जिन्हे प्राचीन भाषाओं के अलावा आधुनिक भाषाओं पर पूरा अधिकार था। पश्चिमी शिक्षा ने भारतीयों को वे उदार और लोकतांत्रिक विचार समझने में मदद की जो तत्कालीन यूरोपीय समाज का स्वरूप निर्धारित कर रहे थे।



गावों में खेती करना छोड, बाहर निकले हुए श्रमिक—चट्टानों को तोडते हुए

पश्चिमी शिक्षा और विचारों ने भारत के एक छोटे से वर्ग को प्रभावित किया। शेष समाज ने भी यूरोपीय शासन का प्रभाव महसूस किया, लेकिन दूसरे रूपों में। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार ने आग्रह किया कि लगान एक ही बार में पूरा-पूरा चुकता किया जाना चाहिए जो कि कुछ ज्यादा गरीब किसान नही कर सके। अतः वे गाँव छोड़कर और किसी रोजगार की तलाश में शहरों की ओर निकल पडे। दूसरे, ब्रिटिश भारत में १८३३ के बाद कुछ ऐसी नौकरियाँ थीं जो भार-

तीयों को दी जाती थीं। इसने सफेदपोश कर्मचारियों का एक अलग वर्ग पैदा किया जिसके सदस्य विभिन्न जातियों के थे और प्रांतों के रहनेवाले थे लेकिन जिनमे यह समानता थी कि वे सभी अंग्रेजी जानते थे और सभी ब्रिटिश सरकार के नौकर थे। तीसरे, १८५४ में रेलों के निर्माण के साथ-साथ इन श्रमिकों और क्लर्कों तथा व्यापारियों के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को आना-जाना ज्यादा सरल हो गया। यह भौतिक आवागमनीयता देश के विभिन्न प्रांतों के लोगों



रेल-लाइन बिछाने के काम में लगी हुई मजदूरिनें

को परस्पर ज्यादा करीब लाई और साथ ही उसने वर्ग-भेद का महत्व कम कर दिया। एक और तत्व था जिसने जाति और विश्वास का भेद किए

बिना भारत के लोगों में और अधिक ऐक्य स्थापित किया। यह तत्व जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की सेवा नही, बल्कि उसका विरोध करना था, राष्ट्रीय स्वाधीनता और एकीकरण का वह आंदोलन था जिसका कि हम आगे एक अध्याय में उल्लेख करेंगे।

सार्वजनिक आचरण की एक अत्यंत उत्तम घोषणा स्वतत्र भारत के सविधान में मिलती है। इसमें अन्य चीजों के अलावा कहा गया है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा––अर्थात, सभी धर्मों और जातियों के भारतीय एक समान माने जाएंगे। यह उचित ही है कि हमारा संविधान जो कि देश का सर्वोच्च कानून है––सहिष्णुता की भावना की उद्घोषणा और परिपुष्टि करे जो कि भारत की युगों पुरानी परंपरा है। लेकिन घोषणा तो आरभ मात्र है। इसमें व्यक्त इच्छा को स्वत. पूरा कर लेने की जादुई ताकत नही है। भारत को सच्चे अर्थ में धर्म-निरपेक्ष और वास्तव में लोकतान्त्रिक बनाने का काम कुछ ऐसा नही है जो एक दिन में, पूरा हो जाए। हममें से प्रत्येक को, अपने-अपने अलग-अलग क्षेत्रों में प्रतिदिन संविधान के आदर्शों को कार्यान्वित करने की कोशिश करनी है। हमें इस बात का बहुत सावधानी से ख्याल रखना चाहिए कि अपने धर्म या अपनी ही जाति के किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात की भावना के कारण हमारे निर्णय और हमारे विचार विकृत या संकुचित न होने पाएँ। ऐसा कर सकना हमेशा आसान नही होता, लेकिन यह चीज अत्यंत आवश्यक है। एक और सबक है जो भारतीय समाज के इतिहास के अध्ययन से हमें मिलता है––वह यह कि हमे विश्व की तरफ अपनी खिड़की खुली रखनी चाहिए और अन्य लोगों तथा अन्य देशों ने जो बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रगति की है उसे सीखने को हमें सदैव उत्सुक रहना चाहिए। कोई भी देश अलग-थलग रहकर प्रगति नहीं कर सकता। जब-जब भारत के लोग दुनिया से बेखबर, केवल अपने ही में खोए रहे हैं तब-तब वे सबसे कमजोर रहे है। अगर आप अखबार पढते है तो आप देखेंगे कि कुल मिलाकर देखने पर ऐसे राष्ट्र भी जरूर हैं जो स्वार्थवश ही कोई काम करते हैं, लेकिन दूसरी ओर दुनिया के लोगों और राष्ट्रों में एक-दूसरे के निकट आने की इच्छा भी है, एक-दूसरे के साथ सह-

योग करने और अपना स्वार्थ छोडकर दूसरे की सहायता करने की इच्छा भी है। केवल ऐसा करने से ही तीसरे विश्व-युद्ध की संभावना को टाला जा सकता है। विश्व-शांति और सहयोग की भारत की अपील अन्य देश तभी सुनेंगे जब औरों को यह दिखाई पडेगा कि हमारे अपने देश में वही सहयोग और समानता की भावना मौजूद है।





# ३—हमारी संस्कृति

*"मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारो ओर दीवारे खडी कर दी जाएँ और उसकी खिड़कियाँ बंद कर दी जाएँ। मैं चाहता हूँ कि सभी देशो की संस्कृतियों का सुरभित समीर मेरे घर में और चारो ओर यथासंभव अधिक-से-अधिक मुक्त रूप से बह सके।"*

—महात्मा गांधी

हम देख चुके हैं कि भारतीय समाज विभिन्न कालो मे भारत में प्रवेश करने-वाली विभिन्न संस्कृतियों के प्रभावों के प्रति हुई प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इन प्रतिक्रियाओं की गहराई का अंदाजा साहित्य, संगीत और ललित कलाओं से, जो मनुष्य की भावनाओं और रचनात्मक वृत्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं, लगाया जा सकता है। बहुत हाल तक भारतीय समाज की ही भाँति इन कलाओं पर भी धर्म का गहरा प्रभाव था। कलाओं की एक दूसरी सामान्य विशेषता यह है कि उनका भाग्य किसी हद तक राजाओं तथा राजदरबारों द्वारा दिए गए संरक्षण पर निर्भर रहा। यह बात विशेष-कर वास्तु-कला और मूर्ति-कला पर लागू होती है, क्योंकि ये दोनों कलाएं बहुत व्यय साध्य है। चित्रकारी, संगीत और साहित्य का, विशेषकर इनके लोकप्रिय रूपों का विकास स्वतंत्र रूप से भी हो सकता था और ये सामान्य जनों के समर्थन और उत्साह के बल पर जीवित रह सकते थे और फूल-फल सकते थे। ये दो विशेषताएं—धर्म से निकट का सबंध और राज-सरक्षण पर निर्भरता—दूसरे देशों की कलाओं में भी देखने को मिलती हैं। किंतु भारत और यूरोपीय देशों के बीच एक बहुत बड़ा

फर्क यह है कि जाति-प्रथा के कारण भारत में शिक्षा उतनी अधिक नहीं फैली जितनी कि आधुनिक यूरोप में फैली है। आज भी बहुत-से भारतीय अनपढ़ है। इसका मतलब यह हुआ कि अतीत में हमारी सांस्कृतिक संपदाओं का उपभोग उतने विस्तृत पैमाने पर नही किया गया जितने विस्तृत पैमाने पर आज किया जा रहा है।

भारतीय साहित्य समन्वय और पारस्परिक प्रभाव का एक सुंदर उदाहरण है। जिस प्रकार हम किसी को 'विशुद्ध' आर्य या 'विशुद्ध' द्रविड़ नहीं कह सकते, उसी प्रकार हम किसी भी भारतीय भाषा को 'विशुद्ध' नहीं कह सकते , क्योंकि वे सभी अनेक प्रभावों की उपज हैं। भारतीय साहित्य की धारा द्रविड, संस्कृत और फारसी, इन तीनों मुख्य स्रोतों के संयोग से बनी हैं और इसके अतिरिक्त इसने अंग्रेजी साहित्य का पुष्कल प्रभाव ग्रहण किया है।

लिखित रूप में जो साहित्य उपलब्ध है उसमें सबसे प्राचीन संस्कृत का साहित्य है। सच तो यह है कि वेद संसार के प्राचीनतम साहित्य हैं। वेद शब्द 'विद (जानना) धातु से बना है और यह नाम बहुत उपयुक्त भी है, क्योंकि वेदों में प्राचीन आर्यो के भारत-विषयक ज्ञान का भंडार भरा हुआ है। फिर लेखन कला के सुविकसित होने पर सस्कृत-साहित्य का भी विकास होने लगा और अंत मे इसने ससार की क्लासिकल भाषाओं में एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। इसमें तरह-तरह के साहित्य लिखे गए--- सूक्ष्म तत्व-चितन किया गया, सुंदर महाकाव्यो की रचना की गई, राजनीति-शास्त्र, व्याकरण, नाटक तथा गीतिकाव्य, सब कुछ लिखे गए। इस्लाम के आगमन के बाद जब सरकारी भाषा के रूप में फारसी का प्रयोग प्रारंभ हुआ तब भी सस्कृत भाषा लुप्त नहीं हुई। सच तो यह है कि बहुत-से मुसलमान शासक भी संस्कृत के अध्ययन का आनंद उठाते थे और उन्होंने उसे संरक्षण प्रदान किया। इसके ह्रास का मुख्य कारण दूसरी सरल भारतीय भाषाओं का विकास था।

उत्तर में संस्कृत का बोल-बाला था और दक्षिण मे तमिल तथा अन्य द्रविड़ बोलियां सुंदर भाषाओं के रूप में विकसित हो रही थीं। दक्षिण में हमें जिस प्राचीनतम साहित्य की जानकारी है वह है ईस्वी सन की प्रारंभिक शताब्दियों का तमिल संगम

साहित्य। तमिल लगभग विशुद्ध रूप से द्रविड़ भाषा थी। शेष तीनों भाषाओं--कन्नड़, तेलुगु और मलयाली--में संस्कृत के भी पर्याप्त तत्व विद्यमान थे। ये भाषाएं विशेषरूप से नवी शताब्दी से फूल-फल रही थीं--आंध्र प्रदेश में तेलुगु, मैसूर मे कन्नड़, जिसका चलन जैनों के बीच अधिक था, और उससे भी पूर्व से केरल में मलयाली। प्राकृत तथा संस्कृत के मिश्रण से निकली मराठी भाषा भी इस काल में यादव राजाओं के संरक्षण में विकसित हुई। पूरब में सेनवंश के राजाओं के शासन-काल में बंगला एक परिपक्व भाषा बन चुकी थी। गुजराती का प्रयोग जैन संत करते थे; पद्रहवीं शताब्दी मे शकरदेव ने असमिया को लोकप्रिय बनाया; और साथ ही बिहार में मैथिली तथा राजस्थान में राजस्थानी का विकास हो रहा था।

फारसी भाषा भारत के मुसलमान शासकों की देन थी। वह न केवल राज-भाषा थी, बल्कि भारत में उस भाषा में बहुत अच्छे साहित्य का भी सृजन हुआ। भारत में फारसी के एक बहुत ही प्रतिभा-संपन्न लेखक अमीर खुसरो थे। फारसी के प्रयोग का एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत की भाषाओं के शब्द-भंडार बहुत समृद्ध हो गए। दो अन्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण भाषाएँ हिंदी और उर्दू थी। हिंदी का विकास तेरहवीं सदी से आरंभ हुआ और उर्दू भाषा हिंदी तथा अरबी-फारसी के मिश्रण से पैदा हुई और विकसित हुई। ये तथा अन्य भाषाएँ लोक-व्यवहार और भजनों तथा गाथा-काव्यों की भाषाएं थीं।

पिछली शताब्दी में भारत में एक दूसरी राज-भाषा आरंभ हुई--वह थी अंग्रेजी। अंग्रेजी भारत के लिए बहुत ही विलक्षण ढंग की भाषा थी और भारत मे ब्रिटिश-राज्य बहुत दीर्घ काल तक नहीं रह पाया। इसलिए यहाँ के लोग अंग्रेजी को फारसी की तरह आत्मसात नही कर पाए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि अंग्रेजी के पास भारतीय साहित्य को देने को कुछ था ही नहीं; अंग्रेजी साहित्य और उसमें अनूदित यूरोपीय भाषाओं की कृतियाँ हमारे सामने साहित्य के नए आयाम प्रस्तुत करती हैं। यह साहित्य तरह-तरह के विषयों पर लिखा गया है, जिनमें से कई का हमारे देश में अधिक विकास नहीं हुआ है---विशेष रूप से विविध विज्ञान और राजनीतिक

दर्शन के विभिन्न पहलुओं के बारे में। आज भी, जब हम पर अंग्रेजों का शासन नहीं रह गया है, अंग्रेजी एक ऐसा मूल्यवान वातायन बनी हुई है जिसके जरिए हम बाहर की दुनिया को देख सकते हैं।

साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा कला-कृतियाँ ज्यादा आसानी से नष्ट हो जाया करती हैं। यही कारण है कि प्राचीन काल की इतनी कम चित्र-कला कृतियाँ शेष रही हैं। प्राचीन काल की जो कलाकृतियाँ हमारे समय तक बची रही हैं वे हैं अजंता, बाघ और सितनवासल की गुफाओं के भित्तिचित्र। इनमें से अजंता और बाघ के चित्र गुप्त-काल में बनाए गए थे और सितनवासल के चित्र पल्लव राजाओं के शासनकाल में बनाए गए थे। इनसे पता चलता है कि इस काल तक चित्र-कला का काफी अधिक विकास हो चुका होगा। इन सभी में चमकीले रंगों और सशक्त बाह्य-रेखाओं का जैसा प्रयोग किया गया है वह गहन प्रशिक्षण के बाद ही संभव हो सकता था। दुर्भाग्यवश प्राचीन भारतीय चित्र-कला के बारे में हम अभी भी अंधकार में हैं और ये गुफा-चित्र ही उस



अंधकार में कुछ प्रकाश की किरणें फेंकते हैं। अजंता के चित्र भव्यता और विराटता का बोध कराते हैं और उनकी रेखाएँ सशक्त हैं। इसके विपरीत सूक्ष्म चित्र अत्यंत छोटे होते थे और उनकी प्रत्येक रेखा में सावधानी भरी हुई थी। अजंता के चित्रों में रंग को बड़े क्षेत्र में फैलाया गया है। लेकिन सूक्ष्म चित्र एक रत्न की तरह चमकदार

बहुरंगी रंगों में चमकते थे। अजंता के चित्रकारों ने बौद्ध आख्यानों को अपना विषय बनाया था। सूक्ष्म चित्रकारी की कला मुगल दरबार मे फारस और मध्य एशिया से आई थी। यह चित्र शैली अन्य जगहों पर भी अपनाई गई, और अठारहवी शताब्दी मे सूक्ष्म-चित्रण की अलग-अलग शैलियाँ कॉंगडा, राजस्थान और टिहरी-गढ़वाल में विकसित हुई जिनमें धार्मिक तथा गैर-धार्मिक विषयों का, दृश्य-चित्रो तथा संगीत के रागों का चित्रण किया गया।

पिछली शताब्दी में बँगला चित्र-कला शैली का जन्म हुआ जिसने न केवल भारतीय बल्कि पाश्चात्य तकनीकों से प्रेरणा ग्रहण की। इस शैली के चित्रकारो ने वाटरकलर मे संवेदनशील और वास्तविक विषयो का हलके रगों में चित्रण किया।



पिछले एक सौ वर्षों में पाश्चात्य चित्र-कला बहुत तेजी से बहुत ढंग की शैलियों के दौर से गुजरी है। भारतीय चित्रकारों पर इन सबका बहुत जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। आज भारतीय चित्रकारों के सामने एक अत्यंत उत्तेजक जगत खोजने को पड़ा है। प्रत्येक चित्रकार के सामने अनेक आधुनिक यूरोपीय और परंपरागत भारतीय शैलियाँ बिखरी पड़ी है और वह इनमें से अपनी पसंद की शैली

चुन सकता है। अब हम केवल 'भारतीय चित्र-कला की बात नहीं कर सकते भारतीय कला आज विश्व-कला का एक अंग मात्र है।



अपने काम में लगे हुए युवा चित्रकार

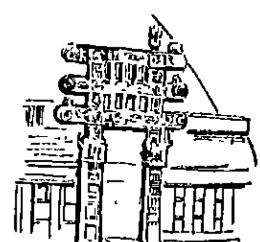
चित्र-कला की अपेक्षा मूर्ति-कला और वास्तु-कला के क्षेत्र में समय-समय पर होनेवाले विभिन्न शैलियों के मिश्रण को ज्यादा स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पत्थर भी बोल सकते हैं, और भवनों तथा मूर्तियों के बिखरे हुए भग्नावशेषों के आधार पर हम एक कथा गढ़ सकते हैं। प्राचीन अवशेषों पर एक नजर डालिए, समकालीन यात्रियों द्वारा दिए गए विवरणों को पढ़िए, उसमें थोड़ी कल्पना जोड़ दीजिए और उसके बाद ये प्राचीन अवशेष, जब बनाए गए थे तब कैसे थे, इसकी एक तस्वीर



आप अपने दिमाग में खींच सकते हैं। आप भारतीय मूर्ति-कला और वास्तु कला की कुछ शैलियों और अन्य देशों की शैलियों की समानताएं भी तब देख सकेंगे।

हमारे पूर्वजों को जो भी सामग्री मिली, उसी को उन्होंने गढ़ा और ढाला——चाहे वह लकड़ी हो, ईंट हो, पत्थर हो या धातु हो। धातु और प्रस्तर-शिल्प तो बच रहे है, लेकिन ईंटों और लकड़ी पर की गई कलाकारियों के नमूने समय के साथ नष्ट हो गए है। जब कोई शक्तिशाली राजा किसी महल या मंदिर का निर्माण कराने का इरादा करता था तब अच्छी-से-अच्छी सामग्री और अच्छे-से-अच्छे शिल्पियों को एकत्र करने में कोई कसर नही उठा रखी जाती थी, और यही कारण है कि जो भी चीज बनाई जाती थी वह विशाल पैमाने पर होती थी। अधिकांश ऐसी रचनाओं की प्रेरणा और उद्देश्य धार्मिक होता था, वे केवल कला-कृति मात्र नहीं होती थी। हालांकि इस प्रेरणा का स्रोत भारतीय धर्म होता था, लेकिन भारतीय वास्तु-कला और मूर्ति-कला ने अन्य देशों की शैलियों के अनेक तत्वों को अपनाया और इसके बदले में अन्य देशों की शैलियों को प्रभावित किया।

भारतीय मूर्ति-कला इतनी सुदर और विविध है कि सक्षेप में उसकी चर्चा करके उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। इसलिए हम संक्षेप में कुछ उदाहरण देकर यह बताएँगे कि वे कौन-कौन प्रभाव हैं जिन्होंने भारतीय मूर्ति-कला को स्वरूप प्रदान किया। मौर्य काल में उत्तर भारत में फारसी और पश्चिमी एशियाई प्रभाव बहुत गहरे थे। इन्हें अशोक द्वारा अपने स्तंभों पर निर्मित पशु-आकृतियों में देखा जा सकता है। इसी



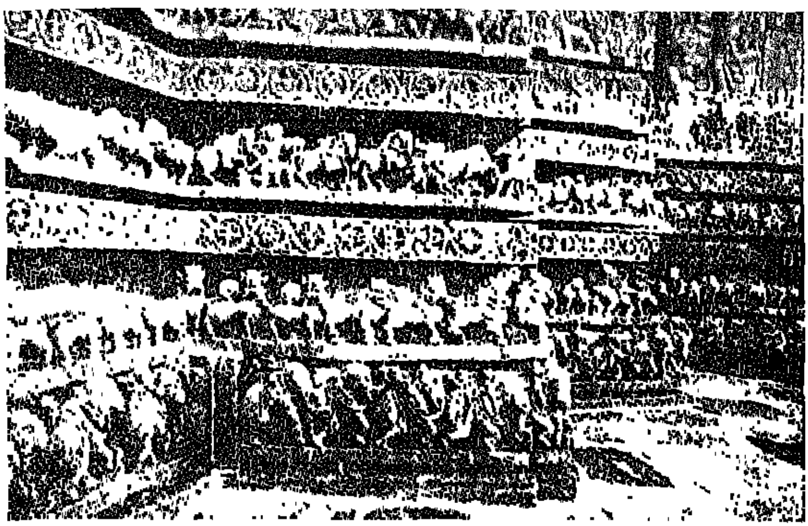
प्रभाव को जरा ज्यादा दबी हुई हालत में साँची के स्तूप जैसी कृतियों में देखा जा सकता है। यह स्तूप, अन्य कृतियों की भाँति ही, पश्चिमी एशियाई कला के साथ संबध स्थापित करता है, लेकिन साथ ही यह द्रविड़ों की कब्रों के



कोणार्क के सूर्य-मंदिर का प्रसिद्ध चक्र

ढूहों का एक सुविकसित रूप है जिसमे प्रस्तर में गढ़ी हुई बुद्ध-संबंधी कथाएं जोड़ दी गई हैं। हम यहाँ रचनाओं का विवरण देने की स्थिति में नही हैं, लेकिन हमने साँची का उदाहरण दे दिया है जो आपको उन विभिन्न सूत्रों को पकड़ने में मदद कर सकता है जिनसे मिलकर भारतीय मूर्ति-कला का ताना-बाना बुना गया है। एक अन्य असाधारण बाह्य प्रभाव कश्मीर में अवंतिपुर की वास्तु कला और गांधार (यह क्षेत्र, जो अब आंशिक रूप से अफगानिस्तान और आंशिक रूप से पाकिस्तान में पडता है, किसी समय उत्तर भारत का एक स्वतंत्र राज्य था) की बुद्ध की मूर्तियों में देखा जा सकता है। ये कृतियाँ एशिया माइनर और रोम की यूनानी कला से प्रेरित थीं, विशेषरूप से मूर्ति पर अवधारित ढीले और लटकते हुए वस्त्रों की रेखाओं की दृष्टि से। कालांतर में ये विदेशी प्रभाव

कम होते गए और भारतीय शैलियों का स्वतन्त्र विकास होने लगा। उड़ीसा में भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी तथा मध्य प्रदेश में खजुराहो के अद्भुत, मंदिरों को देखिए, और राजस्थान से लेकर कांगड़ा में बैजनाथ तक चले जाइए——



मैसूर राज्य के हेलाबिड के एक मंदिर मे उत्कीर्ण कलाकृतियां



आप देखेंगे ऊँचे-ऊँचे शिखर और मंदिरों के बाहर का सुविस्तृत प्रस्तर-शिल्प और मंदिरों के अंदर की गरिमापूर्ण सादगी——जो कि उत्तर भारत की शिल्प-शैली की विशिष्टताएँ हैं। तनिक नीचे, दक्षिण की ओर जाने पर आपको एक विभिन्न शैली के दर्शन होते हैं——हेलाबिड और श्रवण बेलागोला की दक्कन शैली जिसे राजस्थान में माउंट आबू में भी देखा जा सकता है——नीची छत वाले

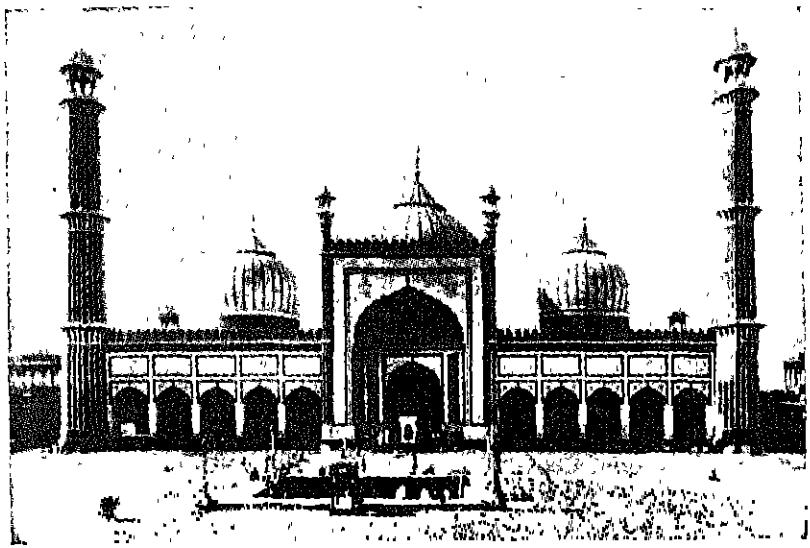
भवन, जिनमे बाहर बारीक कसीदेकारी जैसी खूबसूरत डिजाइनें और स्तभो पर लंबी-लंबी दीर्घाएँ बनी हुई हैं। इन दोनों शैलियों में दिखाई पड़नेवाली प्रस्तर-कला को दक्षिण की द्रविड़ शिल्प-कला में भी देखा जा सकता है, लेकिन यहाँ हम पाते हैं कि मुख्य द्वार-पथों और शिखरों की ऊँचाई असाधारण है—मदुरै का मीनाक्षी मंदिर इसका प्रभावकारी उदाहरण है। इसके स्तभों पर आधारित दीर्घाएं रामेश्वरम के मंदिर की भाँति अधिक लंबी और शानदार हैं। भारतीय शैलियाँ—हिंदू और बौद्ध शैलियाँ—बर्मा, स्याम, कबोडिया और इडोनेशिया तक पहुचो। अङ्कोरवाट के हिदू मदिर तथा जावा में बोरोबदूर-स्थित स्तूप भारतीय प्रायद्वीप से बाहर भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भारत की कुछ कला-शैलियों को ईसा के बाद की आरंभिक शताब्दियों के मध्य-एशिया, चीन, जापान, इटली और स्पेन की कलाओं में देखा जा सकता है।

मुसलमानों ने जब भारत को जीता तब अपनी विजय के बाद उन्होंने कई अत्यत सुदर मदिरों को ध्वस्त कर दिया, लेकिन बाद में नष्ट-ध्वस्त करने की यह प्रक्रिया धीमी पड गई और उन्होंने नए-नए किलों, महलों और मस्जिदों के निर्माण में ज्यादा दिलचस्पी दिखाई। मुगलो ने वास्तु-कला में जो फारसी तत्व प्रविष्ट किए उनमें स्थानीय भारतीय शैलियाँ मिल-जुल गई। अब ऐसे शानदार बृहदाकार भवनों



का निर्माण होने लगा जिनमें पहले के जमाने की अत्यधिक सजावट का कोई स्थान नही था। अकबर द्वारा निर्मित शहर फतहपुर सीकरी में राजपूत कला का प्रभाव देखा जा सकता है। आंबेर और उदयपुर के राजपूती राजमहलों में मुगल प्रभाव देखा

जा सकता है। मध्य भारत में गोलकुंडा और बीजापुर में, जो मुगल प्रभाव से जरा ज्यादा दूर पड़ते थे, इस्लाम और हिंदू धर्म का प्रभाव लगभग एक समान था। इन सभी में फारसी वास्तु-कला का प्रभाव स्पष्ट है---गुंबदों में, मीनारों में, बहुमूल्य पत्थरों



दिल्ली की जामा मसजिद

से जड़ित स्फटिक-दीवारों में तथा पत्थरों की ऐसी जालीदार कटाई में जिससे कि धूप अंदर नहीं आ पाती थी लेकिन रोशनी आती थी। ताजमहल और लाल किला इस बात के उदाहरण हैं कि पारंपरिक शैलियों का उपयोग नई शैलियों की रचना करने के लिए किस सुंदरता के साथ किया जा सकता था।

क्लासिकी यूरोपीय वास्तु-कला ने भी भारतीय वास्तु-कला पर अपनी छाप छोड़ी है। कलकत्ता का विक्टोरिया मैमोरियल और नई दिल्ली का सचिवालय उस क्लासिकी रोमन शैली में बनाए गए थे जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड में बहुत

लोकप्रिय थी। अंग्रेजो के शासन ने भारत को कुछ ऐसे ही शानदार भवन प्रदान किए, लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने भारतीयों को नगरों की योजना कैसे बनाई जानी चाहिए इस दिशा मे एक नया मार्ग दिखाया, अर्थात वास्तु-कला का उपयोग केवल सौदर्य के लिए नहीं बल्कि स्वस्थ नागरिक जीवन के ख्याल से किया जाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से प्रयत्न इस बात का रहा है कि नगरों का निर्माण या पुर्ननिर्माण इस प्रकार किया जाए कि वे स्वच्छ रहें और वहाँ के नागरिकों को ताजी हवा मिल सके। इधर इन दोनों के साथ इस बात की कोशिश की जा रही है कि नगरों को केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही निर्मित न किया जाए बल्कि इस प्रकार किया जाए कि वे आकर्षक भी लगें। चंडीगढ़ नगर उन शहरों में से है जिसको सुदरता और उपयोगिता की दृष्टि से सावधानीपूर्वक सुनियोजित करने के बाद निर्मित किया गया है।

साहित्य और कला से अब हम संगीत और नृत्य की शैलियों की ओर बढते है। सगीत और नृत्य शायद हमारी भावनाओं को व्यक्त करने के सबसे सहज और स्वत स्फूर्त तरीके हैं। यही कारण है कि अन्य कलाओं के विपरीत इनके बहुत से लोकप्रिय तथा शास्त्रीय स्वरूप हैं। भारत में लोक-संगीत और लोक-नृत्यों के बहुत से रूप



हैं और ये सभी बहुत सजीव हैं जैसा कि एक ऐसे देश में स्वाभाविक ही है जिसमें इतने सारे लोगों का भूमि से निकट का नाता हो। सबसे आरंभिक भजनों की रचना आर्यों ने भले ही की हो, लेकिन इन्हें संगीत-बद्ध करके गाने का विचार पहले-पहल द्रविड़ों को ही आया। नृत्य और कर्म-कांड के संगी के रूप में उद्भूत होनेवाला संगीत शीघ्र ही स्वयं में एक कला के रूप में विकसित हो गया। शास्त्रीय संगीत और संगीत की

विभिन्न क्षेत्रीय शैलियां पृथक रूप से, लेकिन एक साथ ही विकसित हुई। एक लंबे समय तक भारत में केवल एक ही संगीत-पद्धति हुआ करती थी और अत्यंत उच्च वैज्ञानिक आधार पर बँधी हुई इस राग-पद्धति मे प्रत्येक संभव सुर-मिश्रण की संभावना का ध्यान रखते हुए नियम बँधे हुए थे। मुसलमानों के उत्तर भारत में आकर बसने के बाद से फारसी सगीत और सगीत वाद्यो के चलते उत्तर भारत का संगीत दक्षिण भारत से भिन्न हो गया, हालाँकि दोनों क्षेत्रों के संगीतकार दोनों शैलियों पर चर्चा करने के लिए अवसर मिलते रहते थे और राजा लोग विभिन्न क्षेत्रों के संगीतकारो को संरक्षण प्रदान करते रहते थे। पश्चिमी संगीत ने भारतीयों को बिल्कुल प्रभावित नहीं किया। इसका मुख्य कारण यह है कि सामंजस्य पर आग्रह रखनेवाले पश्चिमी संगीत को भारतीय संगीत में आत्मसात नही किया जा सकता क्योंकि भारतीय संगीत लयात्मकता पर आग्रह करता है। भारतीय सगीत किसी संगीतकार को स्वरों की जो छूट देता है वह पश्चिमी संगीत में असंभव है। फिर भी पश्चिमी संगीत ने शास्त्रीय भारतीय संगीत पर तो नहीं पर सुगम संगीत पर असर डाला है। इसे सभी लोग पसंद करते है और यह शास्त्रीय संगीत, जिसे केवल कुछ लोग ही समझ सकते है, से भिन्न है। सुगम सगीत में ही भारत के सभी क्षेत्रों की संगीत शैलियाँ और विदेशी संगीत शैलियाँ अपनी विशिष्टताएं खोकर एक ही शैली में मिल-जुलकर प्रकट होती हैं।



कला और संगीत की भाँति ही भारत में नृत्य-शैलियाँ भी धार्मिक पूजा के एक ढंग के रूप में शुरू हुई, लकिन कालांतर में उनका विस्तृत रूप से विकास हो गया। इसे भरतनाट्यम में देखा जा सकता है। भरतनाट्यम दक्षिण भारत का एक भक्ति-नृत्य है जो



धीरे-धीरे समृद्ध भंगिमाओं में विकसित हो गया और जिसका आनंद ऐसा व्यक्ति भी ले सकता है जिसे नृत्य के भक्ति-भाव का कोई ज्ञान न हो। ज्यादा गैर-धार्मिक नृत्यों में हैं बाद में विकसित होनेवाले उत्तर भारतीय कत्थक-नृत्य, और पूर्वी भारत का मणिपुरी-नृत्य। इन नृत्यों में मुख्य चीज वह कथा नहीं है जो नर्तक बताता है बल्कि नर्तक द्वारा गति, मुद्रा और पद-संकेतों द्वारा प्रकट की जाने-वाली कहानी ज्यादा महत्वपूर्ण है। लोक-नृत्य एक प्रकार से ग्रामीण जीवन के कैलेंडर हैं, क्योंकि वे अवसर खेत बोने और खेत काटने के दृश्यों का ही चित्रण करते हैं--किसी लोकप्रिय धार्मिक विषय का नहीं।

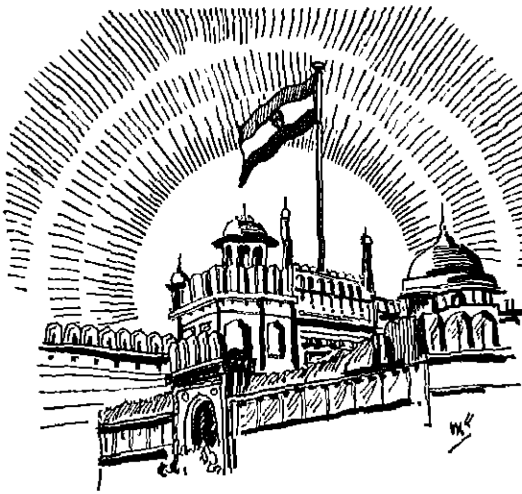
भारत में नाटक राजदरबारों और गाँवों में लोकप्रिय थे--संस्कृत के नाटक



के रूप में जैसे कालिदास कृत 'शकुंतला' तथा पुराणों और ऐतिहासिक कथाओं के रूप में--जैसे बंगाल में जात्रा और केरल में कथकलि नृत्य-नाट्य। पश्चिम की भाँति ही भारत में फिल्मों के आगमन के साथ ही नाटकों का ह्रास हुआ है। भारत में फिल्म-निर्माण का प्रारंभ इस सदी के शुरू में हुआ। फिल्में जन-साधारण के सामने नाटक और संगीत तथा सामाजिक और राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत करने का अद्भुत साधन है। हमारे देश में बनाई जानेवाली फिल्मों की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है। फिल्मों की संख्या बढ़ने के साथ ही कुछ फिल्मों के कलात्मक गुणों का ह्रास हुआ है। लेकिन इधर कुछ प्रतिभाशाली निर्माताओं

और निर्देशकों ने दिखा दिया है कि सशक्त और सुंदर फिल्में भी बनाई जा सकती हैं।

भारतीय संस्कृति इतनी समृद्ध है कि हममें से कोई भी उसको संपूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। उसमें चुनाव की इतनी गुंजाइश है कि हममें से प्रत्येक को उसमें से अपनी पसंद का चुनने और उसका पूरा आनंद लेने की छूट है। हममें से अधिकांश लोग केवल सीख सकते हैं और आनंद ले सकते हैं, लेकिन हममें कुछ ऐसे प्रतिभाशाली लोग हैं जो इससे भी ज्यादा कर सकते हैं। वे हमारी विरासत में अपने कृतित्व का योगदान कर सकते हैं, अपनी प्रतिभा का अंश जोड़ सकते हैं--कहानी लिखकर, या कोई चित्र बना कर, या कोई गीत रचकर। भारतीय संस्कृति अत्यंत विशाल और विराट है और जीवंत भी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसे जीवित रखें और इसमें जो कुछ जोड़ सकें, जोड़ें।



## ४—हमारा राष्ट्र

हमने देखा कि भारतीय समाज और संस्कृति ने सभी कालों में अद्भुत लोच-शीलता का, और अपने प्राचीन मूल्यों को खोए बिना नए लोगों और नई संस्कृतियों को आत्मसात करने की क्षमता का परिचय दिया है। लेकिन राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से वैसी ही क्षमता और शक्ति का इस देश में अभाव रहा, और इस सदी से पहले तक हमारा देश कभी भी पूरी तरह स्वाधीन और एकीकृत नहीं रहा।

भारत में राजनीतिक एकीकरण के मार्ग मे सबसे बड़ी कठिनाई उसकी विशालता रही है। यह प्रायद्वीप इतना बड़ा है कि इसके अधिकांश भाग को एक ही शासक के अधीन एकता के सूत्र में बाँधने के किसी भी सफल प्रयत्न को चमत्कार ही समझा जाएगा। संसार में केवल तीन ही अन्य ऐसे देश हैं जिनकी आकार की विशालता की दृष्टि से भारत से तुलना की जा सकती है। ये हैं—चीन, अमेरिका और रूस। चीन में राजनीतिक एकता का इतिहास बहुत लंबा है। इसका कुछ कारण तो यह

है कि भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से चीन बहुत भाग्यशाली रहा है। चारों ओर समुद्र और रेगिस्तान से घिरा होने के कारण विदेशी आक्रमणकारी उतनी सरलता से चीन में नहीं घुस सकते थे जितनी सरलता से वे उत्तर पश्चिमी हिमालय के दर्रों के रास्ते भारत में घुस सकते थे। रूस (जैसा कि वह सोवियत सरकार की स्थापना से पहले, एक साम्राज्य के रूप में था) मे राजनीतिक नियत्रण उसकी वर्तमान भौगोलिक सीमाओं तक केवल उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्थापित हो सका। सयुक्त राज्य अमेरिका तो तरुण राष्ट्र है जो मुश्किल से दो-सौ साल पुराना है। इसलिए भारत में राजनीतिक एकता का अगर कोई बहुत लंबा इतिहास नहीं है तो यह तथ्य इस बात का द्योतक कदापि नहीं है कि हमारे देश में कोई बुनियादी कमजोरी है। अब हम भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित करने के प्रयत्नों पर एक सरसरी निगाह डालेंगे। उसके बाद भारत की जनता द्वारा स्वय यह राजनीतिक एकता स्थापित करने की कहानी हम पढ़ेंगे—वह कहानी, जो अभी भी जारी है।

सबसे पहले एक विशाल साम्राज्य मौर्य शासकों ने ईसा के जन्म से तीन सौ वर्ष पहले स्थापित किया था। यह साम्राज्य अफगानिस्तान से मैसूर तक फैला हुआ था और इसका क्षेत्र आज के स्वतंत्र भारतीय संघ के क्षेत्रफल से भी ज्यादा था। इस साम्राज्य की स्थापना अन्य राज्यों को जीत कर की गई थी। मौर्य शासकों में सबसे महान शासक सम्राट अशोक था। उसने यह अनुभव किया कि इतने विविध प्रकार के लोगों को एक ही साम्राज्य के अंतर्गत रखने के लिए एक अत्यंत केंद्रीकृत सरकार और सैनिक शक्ति ही काफी नहीं है। उसने यह निश्चय किया कि आगे से वह अन्य देशों को अपने साम्राज्य में नही मिलाएगा। अपनी प्रजा के अंदर एकता की भावना पैदा करने के लिए उसने बौद्ध सिद्धांतों का प्रयोग करने की कोशिश भी की। उसे आशा थी कि ये सिद्धांत अलग-अलग जातियों और धर्मों से ऊपर उठे होंगे, लेकिन फिर भी इन्हें वे सभी समझेंगे, और इस प्रकार उनके अंदर एकता और एक ही साम्राज्य के नागरिक होने की समान भावना पैदा होगी। अपने शासन काल में उसे अपने इस प्रयत्न में सफलता मिली, लेकिन अशोक के बाद कमजोर शासकों के

कारण और बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

मौर्य साम्राज्य की भाँति ही बाद के कालों में जो बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, वे केवल तब तक ही चल सके जब तक उनके शासक योग्य और शक्तिशाली थे। ईसा के बाद चौथी शताब्दी का गुप्त साम्राज्य सिंधु नदी से बंगाल की खाड़ी तक, और कश्मीर से नर्मदा तक फैला हुआ था। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में तुगलक साम्राज्य सिंधु से कावेरी तक फैला हुआ था और विजयनगर साम्राज्य के अधीन चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक कृष्णा नदी के दक्षिण का सारा भू-भाग था। अपने-अपने समय में ये सभी वैभवशाली और शक्तिशाली साम्राज्य थे।

मुगलों का साम्राज्य सोलहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक अपने वैभव के चरमोत्कर्ष पर रहा। यह अफगानिस्तान से दक्षिण तक फैला हुआ था। जिस प्रकार अशोक ने केंद्रीकरण और सैनिक शक्ति के सिवा अन्य तरीकों से अपनी प्रजा को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार अकबर ने भी अपने साम्राज्य को सैन्यबल से नहीं बल्कि प्रजा की सहमति से कायम रखने का प्रयत्न किया। उसने अपनी प्रजा के साथ, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, एकसमान व्यवहार किया। वह बहुत चतुर था और समझता था कि विद्रोह सामान्यतः साम्राज्य के उन्हीं क्षेत्रों में होते हैं जो राजधानी से बहुत दूर होते हैं, और विद्रोह करने वाले अक्सर वे सूबेदार होते हैं जो एक ही जगह बहुत दिनों तक बने रहते हैं। इसलिए वह सूबेदारों की अक्सर एक जगह से दूसरी जगह बदली करता रहता था ताकि कोई सूबेदार किसी एक जगह पर इतने दिनों तक न रह सके कि उसे विद्रोह उकसाने का अवसर मिल सके। एक कुशल शासक और राजनयज्ञ के इन दोनों सिद्धांतों की बाद के मुगल सम्राटों ने उपेक्षा की, और यही उपेक्षा उनके साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण बनी। मुगलों की शक्ति का सबसे प्रबल विरोध मराठों की ओर से हुआ। संभव था कि वे अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लेते, लेकिन यह हुआ नहीं। उनकी कम-जोरी यह थी कि उनके बीच बहुत-से मराठा सरदार थे, और हर एक की अपनी-

अपनी महत्वाकांक्षाएं थी। परिणामस्वरूप उनकी सम्मिलित शक्ति कगार की तरह ढह गई और वे आँधी में तिनकों की भाँति बिखर गए।

ये साम्राज्य, और इनके बाद स्थापित होनेवाले बहुत सारे अन्य छोटे-बड़े साम्राज्य क्यों विफल हुए, इसके दो मोटे कारण दिए जा सकते है। पहली बात तो यह है कि ये साम्राज्य बाहर से देखने में बहुत प्रभावशाली दिखाई पड़ते थे, लेकिन बुनियादी तौर पर वे बहुत कमजोर थे क्योंकि उनमें कोई सुविकसित या कोई ऐसी समान प्रशासन-व्यवस्था नहीं थी जो सभी जगहों पर समान रूप से लागू हो। केंद्र से दूरवर्ती क्षेत्रो के नियंत्रण के लिए सम्राट लोग स्थानीय शासकों या सूबेदारों के ऊपर निर्भर रहते थे, और ये लोग हमेशा वफादार ही नहीं होते थे। देश के विभिन्न भागों को जोडने के लिए व्यापार-मार्गो अथवा मुगल सम्राटों द्वारा बनाए गए मुख्य मार्गो को छोड़कर संवहन की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके मतलब थे कि सम्राट के पास भले ही बहुत भारी सेना हो, लेकिन उसे देश के एक भाग से दूसरे भाग में शीघ्रता के साथ नहीं भेजा जा सकता था। इसके अलावा, जब कभी शासक अपने राज्य के दौरे पर या विजय-अभियान पर निकलता था तब धर्माधिकारी और प्रमुख सरकारी अधिकारी उसके साथ जाते थे, जिसका अर्थ था कि सम्राट की अनुपस्थिति में राजधानी तक में विद्रोह हो सकते थे। दूसरा कारण यह था कि इनमें से कोई भी साम्राज्य, अशोक और अकबर के साम्राज्य भी, सारी प्रजा की सक्रिय सहमति या सहयोग पर आधारित नहीं थे। शासकों के परिवर्तन से सामान्य जनता को कोई फर्क नहीं पड़ता था। अलबत्ता जब कोई नया शासक अतिरिक्त कर-भार थोपता था या धार्मिक भेद-भाव बरतता था तभी जनता को यह परिवर्तन महसूस होता था। जो शासन सैनिक-बल अथवा जनता के केवल छोटे से भाग की सहमति पर आधारित होते हैं, वे ज्यादा दिन नही टिक सकते।

भारत में अंग्रेजी शासन की अवधि बहुत संक्षिप्त––मुश्किल से दो शताब्दी थी लेकिन अंग्रेज लोग पहले के शासकों से भिन्न थे। वे इस अर्थ में भिन्न थे कि ऊपर हमने पहले के शासकों की जिस कमजोरी का जिक्र किया है, वह कमजोरी उनमें नहीं

थी। उन्होंने देश में एक समान कानूनी और प्रशासनिक प्रणाली लागू की और देश को अच्छी संवहन और संचार व्यवस्था से जोड दिया। तथापि भारत पर स्थायी रूप से आधिपत्य रख सकने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था। उनके शासन में पहले के शासको की दूसरी वाली कमजोरी मौजूद थी, अर्थात उन्हें अपनी सारी प्रजा का समर्थन प्राप्त नहीं था। वल्कि सही तो यह है कि पहले के शासकों के प्रति जनता में जितना प्रेम था, ब्रिटिश शासकों को उससे भी कम प्रेम प्राप्त था क्योंकि अग्रेज लोग विदेशियों के रूप मे शासन करते थे, जब कि उनसे पहले के विजेता अपने को भारतीय समझने को तैयार थे।

ब्रिटिश शासन के प्रति गंभीर रूप मे विरोध सवसे पहले १८५७ मे प्रकट किया गया। इस वर्ष, कुछ महीनों तक तो ऐसा लगता था कि शायद उत्तर भारत के कुछ हिस्सों से अग्रेजी शासन बिल्कुल उखाड़ फेंका जाएगा। ये भाग वे थे जिन्हें आज उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के नाम से जाना जाता है। इस क्रांति का नेतृत्व भारतीय सैनिकों ने, अग्रेजों द्वारा पराजित हुए कुछ राजाओं ने तथा कुछ सामान्य नागरिकों ने किया था। इस क्रांति का एक परिणाम यह हुआ कि इसके वाद से अंग्रेजो ने भारतीय राजाओं के साथ मित्रता की नीति का पालन किया। मेल-मिलाप की इस नीति और अंग्रेजों की अधिक सामरिक-शक्ति ने १८५७ के ढंग के विद्रोह को भविष्य में फिर भडकने से वचा लिया।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार तथा पश्चिमी विचारों, विशेष रूप से पश्चिमी राजनीतिक विचारों के अध्ययन का, जिसका प्रारंभ राजा राममोहन राय की प्रेरणा से १८७८ में हुआ था, परिणाम यह हुआ कि भारत में राजनीतिक संगठनो की स्थापना हुई। इन संगठनों में प्रमुख शहरों के शिक्षित भारतीय लोग सदस्य हुआ करते थे। इनमें सबसे प्रमुख संगठन था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसकी स्थापना १८८५ में हुई। इस संगठन के सदस्यों को आशा थी कि उन्हें सरकारी पदों पर नियुक्त होने तथा सरकार की आलोचना करने का अधिकार होगा। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में कांग्रेस के कुछ सदस्य इस अपेक्षा से थोड़ा आगे बढ़ गए। उन्होंने

भारत की स्वाधीनता की माँग की, और कुछ ने धमकी दी कि यदि स्वतंत्रता नहीं दी गई तो उसके लिए लड़ाई की जाएगी। इसका अर्थ था कि कांग्रेस में दो वर्ग थे—एक नरमपंथी वर्ग जो ऐसा मानता था कि स्वतंत्रता बाद की चीज है, तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि भारतीयों को पश्चिमी ढंग की संस्थाओं में भाग लेने की शिक्षा दी जाए, विशेष रूप से संसदीय ढंग की व्यवस्था की। दूसरा वर्ग था उग्रपंथी, ऐसे लोगों का वर्ग जिनका कहना था कि ये संस्थाएँ बाद में विकसित की जा सकती है, और तात्कालिक माँग स्वराज्य की होनी चाहिए। दोनों वर्गों की अपनी-अपनी कमजोरियाँ थीं। नरमपंथी लोग पश्चिमी उदारवाद के अंध-भक्त थे। ये लोग यह समझने में असमर्थ थे कि इस व्यवस्था को भारत में लागू करना कठिन होगा क्योंकि यहाँ के सर्वसाधारण जनों को ऐसी शिक्षा नहीं दी गई है जो उन्हे इन राजनीतिक आदर्शों को समझने में सहायता दे सके। इसके विपरीत, उग्रपंथी लोग पश्चिम के हर मूल्य को बिल्कुल अस्वीकार करते थे और उनका दावा था कि वे भारतीय परंपराओं की पुनर्स्थापना के पक्ष में हैं और चाहते है कि प्राचीन काल का भारतवर्ष जैसा था वैसा ही उसे फिर से बनाया जाए।

बीसवीं शताब्दी में दो नई बातें हुईं। पहली थी, १९०५ में मुस्लिम लीग की स्थापना, जिसका उद्देश्य था कि मुसलमानों के लिए, जो कि भारत में एक अल्प-संख्यक जाति थी, विशेष राजनीतिक रियायतें प्राप्त की जाएँ। दूसरी यह कि अंग्रेजों ने कांग्रेस की माँगों को इतनी अनिच्छा से और इतने अधूरे रूप मे स्वीकार किया कि बहुत से लोग अधीर हो उठे। जो लोग जल्दी ही कुछ कर डालना चाहते हों, उन्हें समय की रफ्तार बहुत धीमी मालूम हो सकती है। उनमें से कुछ को ऐसा लगा कि जहाँ कहना-सुनना व्यर्थ हुआ है, संभव है कुछ कर डालना ज्यादा प्रभावकारी साबित हो। इसका परिणाम हुआ आतंकवाद का विकास, जिसके अंतर्गत अंग्रेज अधिकारियो की हत्या और अंग्रेजों की संपत्ति की क्षति की गई। १९१९ एक नाजुक वर्ष था। यह वह वर्ष था जब १९१४-१९१८ का प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त करते हुए एक शांति-समझौता किया गया था। बहुत से भारतीयों को आशा थी कि चूँकि भारत ने युद्ध में ब्रिटेन

की उदारतापूर्वक सहायता की थी अत: उसे पूर्ण अथवा आंशिक स्वतंत्रता प्रदान करके पुरस्कृत किया जाएगा। उनकी इस आशा को इस तथ्य से भी बल मिला था कि शांति-सम्मेलन में कई यूरोपीय जातियों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्रदान की जा रही थी। लेकिन इन आशाओं को गहरा धक्का पहुँचाया गया। भारत को केवल १९१९ का काउंसिल अधिनियम दिया गया, जिसके अंतर्गत भारतीयों को सरकारी काम काज में अपेक्षतया ज्यादा भाग तो प्रदान किया गया था लेकिन स्वाधीनता का उसमें कोई जिक्र नहीं था।

१९१९ के वर्ष ने जहाँ ये दो निराशाएँ देखीं, वहीं उसने राजनीतिक आंदोलन में एक नई शक्ति का आगमन भी देखा। जैसे कोई चमत्कार हुआ हो, इस प्रकार एक आदमी नई तरकीब लेकर सामने आया। इस तरकीब ने, क्योंकि वह बहुत सरल थी, और क्योंकि इस तरकीब को सुझानेवाले व्यक्ति का व्यक्तित्व अत्यंत अद्भुत और प्रभावकारी था, इस आंदोलन को एक राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप प्रदान कर दिया जिसके समर्थक सभी क्षेत्रों के सभी वर्गों के लोग बन गए। यह व्यक्ति थे महात्मा गांधी। विचित्र भले लगे, लेकिन उनका अस्त्र था अहिंसा। गांधी जी की ईमानदारी ऐसी थी कि उन्हें कोई भी, यहाँ तक कि अंग्रेज लोग भी, नापसंद नहीं कर सकते थे। उनकी भाषा और उनका आचरण इतना सादा था कि बच्चे तक उनको समझ सकते थे। यही कारण है कि गांधी जी वह प्राप्त कर सके जो उनसे पहले कोई राजनीतिक नेता नहीं प्राप्त कर सका था--सारे देश के लोग उन्हें या कम-से-कम उनके बारे में जान गए। इसका मतलब यह नहीं कि सभी लोग उनके आदर्शों को पूरी तरह समझते थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन देखने में तो बहुत सरल प्रतीत होता था लेकिन इस आंदोलन में आतंकवादियों द्वारा भावनात्मक आवेग में दिखाई गई साहसिकता के मुकाबले कहीं ज्यादा साहस और दृढ़ता की अपेक्षा थी। १९२० से १९४० तक के बीच गांधी जी ने मध्य और निम्नवर्गीय लोगों के बीच में अपना प्रभाव बहुत बढ़ा लिया। ये अत्यंत उत्तेजनापूर्ण वर्ष थे---राष्ट्रीय आंदोलन ताजी हवा के एक झोंके के समान सारे देश में फैल गया। बहुत-से लोगों ने स्वाधीनता-

प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन किया––जिनमें से कुछ नाम हमें ज्ञात हैं लेकिन हजारों ऐसे हैं जो अज्ञात हैं।

एक बार बड़े पैमाने पर राजनीतिक जागृति पैदा हो जाने के बाद ऐसे दल पैदा होने लगे जो स्वाधीनता के ऊपर नहीं बल्कि कुछ विशिष्ट समस्याओं पर सारा जोर लगाने लगे। इनमे से सबसे बडा दल था मुस्लिम लीग जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके है। लोग ने सबसे पहले इस लिए आंदोलन किया कि मुसलमानों के लिए विशेष राजनीतिक सुविधाओं की व्यवस्था की जाए, क्योंकि अन्यथा हिंदू लोग उन पर हावी हो जाएंगे। लेकिन १९३० के बाद से मुस्लिम लीग इससे भी आगे बढ़ी––उसने माँग की कि जिन क्षेत्रों में मुसलमानों का बहुमत है वहाँ उन्हे एक पृथक राज्य प्रदान किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि देश का विभाजन हुआ और भारत ने १९४७ मे जिस समय स्वाधीनता प्राप्त की, उसी समय पाकिस्तान के रूप में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना भी हुई।

भारत में अनेक समाजवादी दल थे––कम्युनिस्ट पार्टी, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी––और ये सभी दल चाहते थे कि किसानों और श्रमिक वर्गो की समस्याओं पर ध्यान दिया जाए। एक अन्य वर्ग भी प्रकाश में आया जब डा० अबेदकर ने अनुसूचित निर्योग्यताग्रस्त निम्न वर्गों का मामला पेश किया। इस तरह भारत ने दुनिया के सामने अपने स्वतंत्र होने की योग्यता का परिचय दिया। १८८५ से १८८९ तक के चार सालों में कांग्रेस ने जो नर्म माँगे रखी थीं वे बढ़कर स्वाधीनता और एकीकरण के देश-व्यापी आदोलन में परिवर्तित हो गई थीं और विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थापना इस बात का प्रमाण थी कि भारतीय लोग अपने समाज के बीच उत्पन्न होनेवाली समस्याओं, जिनसे कि उन्हें निपटना था, के प्रति जागरूक हैं। इंग्लैंड ने अब अनुभव किया कि स्वाधीनता की माँग की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः १९४७ में उन्होंने भारतीयो को राजनीतिक सत्ता सौंप दी।

१५ अगस्त, १९४७––भारतीय स्वाधीनता का दिन––उत्साह-उल्लास

और चिर-अभिलषित कामना की पूर्ति का दिन था। बाद मे यह अनुभव किया गया कि कई अर्थो में ज्यादा बड़ी राजनीतिक समस्याएं स्वतंत्रता से पहले की अपेक्षा उसके बाद पैदा होती है। १९४७ से बाद के वर्ष भारतीय लोगों की एकता और संगठन की परीक्षा के नाजुक वर्ष रहे हैं। किसी विदेशी के विरुद्ध एकता कायम रखना अपेक्षाकृत आसान है, बाद में यह एकता कायम रखना उतना आसान नहीं है। १९४७ से पहले अंग्रेजों के विरुद्ध एकता देखी गई थी; जब चीनियों ने १९६२ मे आक्रमण किया तब यह एकता फिर दिखाई पड़ी। चीनियों के इस आक्रमण ने यह सिद्ध कर दिया कि सतही तनावों के बावजूद, बुनियादी तौर पर भारत एक राष्ट्र है। यह दुर्भाग्य की बात है कि किसी विदेशी आक्रमण का खतरा न होने पर यह भावना उतनी ही स्पष्ट और स्वयं प्रकट नहीं होती।

आखिर हमारे देश में एकता का अभाव क्यों होना चाहिए? थोड़ा बहुत संघर्ष या विरोध तो किसी भी लोकतांत्रिक देश की विशेषता है (अर्थात ऐसा देश जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त है), लेकिन भारत में ये संघर्ष किसी भी अन्य देश की अपेक्षा ज्यादा हुए हैं क्योंकि यहाँ धार्मिक और भाषायी भेद ज्यादा हैं, जिनका कि जिक्र हम पहले कर चुके है। किसी लोकतांत्रिक सरकार के लाभों का--भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पूर्ण अधिकार का--विचारहीन या स्वार्थी लोगों द्वारा दुरुपयोग किया जा सकता है। जो लोग ऐसा करते हैं वे समानता और समान अवसरों की उस भावना के विरुद्ध काम कर रहे है जिसकी कि हमने १९४७ में गारंटी की थी। लोकतंत्र एक विशेषाधिकार है--लेकिन एक ऐसा अधिकार है जिसका आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है। इसे कई स्तरों पर देखा जा सकता है---एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों के प्रति आचरण में, गाँवों या शहरों के प्रशासन में, विभिन्न राज्यों की निर्वाचित विधान सभाओं में; देश की संसद में। भारत में इन लोकतंत्रीय संस्थाओं की उत्पत्ति हाल में हुई है। इनका विकास अंशतः उन्नीसवी शताब्दी के मध्य के बाद से शुरू हुआ था लेकिन वे पूर्णतः लोकतान्त्रिक १९४७ के बाद ही हुई। इसीलिए हमें इन संस्थाओं की कार्यविधि का बहुत लंबा अनुभव नहीं है।



नई दिल्ली में राष्ट्रपति के घुड़सवार अंगरक्षक

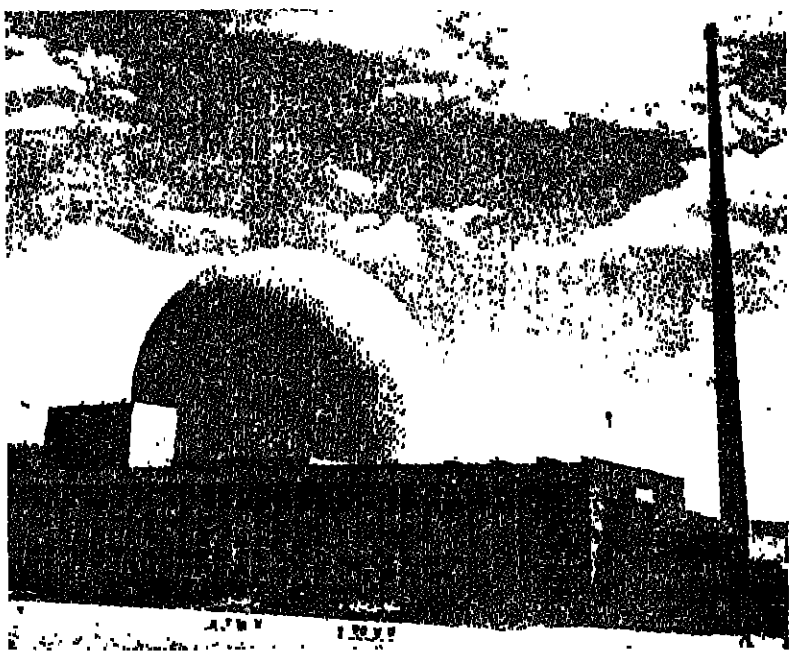
इस बात को ध्यान में रखते हुए यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम देखें कि हम राजनीति में धर्म, जाति या भाषा के विचारों को जोड कर और ज्यादा गड़बड़ी न फैलाएं। ऐसा करने से इस राष्ट्र की एकता खतरे में पड जाएगी, ऐसा राष्ट्र जिसकी स्थापना १९४७ मे की गई थी और जो हमारे देश की विविधताओं के ऊपर एकता के एक अद्भुत सेतु के समान खड़ा है और साथ ही जिसमें इस विविधता के प्रति आदर की भावना है। हमें अपनी इस राष्ट्रीयता की भावना को सावधानी के साथ सहेज कर रखना चाहिए।



# ५—………और हम

हमने भारत की विरासत पर सरसरी निगाह डाली है। किसी देश के लोग किस प्रकार रहेंगे, इसका निश्चय करने में उस देश की भौगोलिक प्रकृति और जलवायु का विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत इस दृष्टि से बहुत भाग्यशाली है कि यहाँ की भूमि बहुत ही उपजाऊ और विभिन्न प्रकार की है तथा यहाँ की जलवायु अच्छी है। विगतकाल मे इन्ही तत्वों ने उसे एक समृद्ध देश बनाया था, लेकिन आज, जब कि कृषि-उत्पादन मात्र ही किसी देश की समृद्धि का सूचक नही रह गया है, और समृद्धि तथा संपन्नता के लिए उद्योग आवश्यक होते जा रहे है, तब भारत को अभी बहुत कुछ करना बाकी है। यह एक चुनौतीपूर्ण काम है, लेकिन भारत को एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि अपनी महानता के दिनों में भी वह जो नहीं था, आज वह है। आज वह एक स्थायी और लोकतांत्रिक राजनीतिक इकाई है, और राजनीतिक एकता सदा आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन देती है। उसको बौद्धिक साधनों का एक अन्य लाभ भी है। धन तथा जो चीजें धन से खरीदी जा सकती है, वे मनुष्य की आवश्यकताओ को आंशिक रूप में ही पूरा कर सकती हैं। जो कमी बचती है उसकी पूर्ति मस्तिष्क को खूराक पहुँचा कर ही की जा सकती हैं। इस खूराक को हमारी सांस्कृतिक निधियों में, तथा हमारे देश के विभिन्न भागों की खोज करने के साहसिक प्रयत्नों में

और विभिन्न रीति-रिवाजो और प्रथाओं और भाषाओं वाले लोगों को जानने के प्रयत्नों मे प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि हमारा इतिहास अप्रत्यक्ष रूप से उत्साहवर्द्धक है। वह इस दृष्टि से कि किसी समुदाय या धर्म की यह इच्छा कि वह भारत मे किसी अन्य समुदाय या धर्म को समाप्त कर दे, कभी सार्थक और अपने उद्देश्य मे समर्थ नही हो सकी। किसी भी नई चीज को किसी पुरानी मान्यता का त्याग किए बिना स्वीकार करने में सहिष्णुता की भावना ने हमेशा मदद की है। दूसरी जो बात फिर से कहने की है वह यह कि हमारा भारतीय गणतंत्र उन



महाराष्ट्र मे बबई के निकट ट्राम्बे स्थित आणविक अनुसधान केन्द

लोगों के कार्यों का परिणाम है जिन्होंने हमारे देश के विभिन्न वर्गों को एक राष्ट्र के रूप मे परिवर्तित करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जिस राष्ट्र की रचना की, वह मात्र एक कानूनी और राजनीतिक संगठन ही नहीं है। राष्ट्रवाद इससे ज्यादा बड़ी चीज है। सबसे ऊपर यह मस्तिष्क के रवैये की बात है। भारत एक अत्यंत तरुण राष्ट्र है और उसके निर्माण का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है——वह जारी है। हमारे विभिन्न आर्थिक साधन और हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत केवल कुछ क्षेत्रों की नहीं, बल्कि समूचे देश की संपत्ति हैं। हमें उनका आदर करना है और उनका रचनात्मक रूप में प्रयोग करना है। हमने इस पुस्तक का आरंभ पंडित नेहरू की एक उक्ति से किया था। इसका अंत भी हम उनके एक कथन से ही करेंगे, एक प्रश्न, जो हमें अपने आपसे करना चाहिए :

*"हम सभी भारत की बात करते हैं, और भारत से कितनी ही चीजों की अपेक्षा करते हैं। लेकिन हम बदले में उसे देते क्या हैं?"*

